प्रकाशक
वास्तु-वाङ्मय-प्रकाशन-शाला
शुक्ल-कुटी, फैजाबाद रोड
लखनऊ

लेखक की प्रकाशित कृतियाँ

१	भारतीय वास्तु-शास्त्र	वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश	मूल्य ८॥)
२	,,	प्रतिमा-विज्ञान	,, १५)
३.	,,	प्रतिमा-लक्षण	,, १२)
४	,,	चित्र लक्षण	,, २)
५.	,,	❀ हिन्दू प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ भूमि	,, ३)

In Press —

1	Hindu Iconography 700 pages	price Rs 30/-
2	Hindu Science of Architecture 700 pages	,, Rs 30/-

❀ यह पुस्तक लेखक के 'प्रासाद-वास्तु' का एक अंश-मात्र है। जनोपयोगिता की दृष्टि से यह अंश अलग से भी प्रकाशित हो रहा है।

श्रा० २०१४ वि०

मुद्रक
पं० बिहारीलाल शुक्ल
शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस
लखनऊ

१५७. नियुते
१५८. प्रयुतेसी
१५६. अर्बुदे
१६०. न्यर्बुदे
१६१. समुद्रे
१६२. मध्ये
१६३. पन्ते
१६४. अन्तेसी
१६५ परार्धमी
१६६ पिण्वमानासि
१६७ ऋतमस्तृन
१६८. सत्यमसि
१६६. सनिरसि
१७०. सङ्ग-श्रितमि
१७१. मम्पद
१७२. आयुम.-प्राणाङ्गसम्
१७३. प्राणड्दपानाङ्गसम
१७४. अपानादुयानाङ्गसम्
१७५. व्याना-चक्षुः
१७६. चक्षुसहस्लो
१७७. श्रोतात्मनः
१७८. मनसो
१७६. वाचा
१८०. आत्मन.
१८१. पृथिव्या
१८२. अन्तर्विक्षाद्दि
१८३. दिवःसुधा.
१८४. पृथिवी
१८५. आन्तरिक्षम्
१८६. र्यावंशा
१८७. ऋग्वशा
१८८. विद्वशा
१८६. त्रिवृते
१६०. पंचदगौते
१६१. मसद
१६२. एकविगगौते
१६३. त्रिणवन्तेजः
१६४. मनसो
१६५. त्वामस्ये
१६६. लोकम्
१६७. लोकम्पृणा
१६८ लोकम्पृणा
१६६ लोकम्पृणा
२००. लोकम्पृणा

विषय-प्रवेश

हिन्दू-प्रासाद भारतीय वास्तु-शास्त्र एवं भारतीय वास्तु-कला का मुकुटमणि ही नहीं मर्म भी है। भारतीय स्थापत्य की मूर्तिमती विभूति हिन्दू-प्रासाद है। यहाँ का स्थापत्य यज्ञ-वेदी से प्रारम्भ होता है और मन्दिर की शिखर-शिला पर समाप्त होता है। 'प्रासाद' शब्द से जैसा हम आगे देखेंगे प्रवर्धित पाषाण ([illegible]) की ही तो परम्परा है, जो सर्वप्रथम वैदिक चिति के कलेवर-निर्माण में प्रयुक्त हुई और यही कालान्तर में हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की पृष्ठ-भूमि बनी।

मानव-सभ्यता के विकास की आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं दैहिक, मानसिक तथा कलात्मिक आदि विभिन्न सांस्कृतिक प्रगतियों में वास्तु-कलात्मक कृतियाँ एक प्रकार से सर्वातिशायिनी स्मृतियाँ हैं। ये कृतियाँ उपल या पाषाण आदि चिरस्थायि द्रव्यों से प्रादुर्भूत होकर युग-युग तक इस सांस्कृतिक विकास का चरम निदर्शन ही नहीं प्रस्तुत करती हैं वरन् प्राचीन सांस्कृतिक वैभव का प्रत्यक्ष निदर्शन उपस्थित करती हैं। प्रत्येक देश एवं जाति की वास्तु कृतियों में तद्देशीय एवं तत्कालीन विशेषताओं की छाप रहती है। यूनान, रोम आदि देशों की वास्तु-कला की विशिष्टताओं से हम परिचित ही हैं (देखिये, भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, वा० वि० एवं पुर-निवेश—पृष्ठ २६)। भारतीय वास्तु-कला की सर्वप्रमुख विशेषता इसकी आध्यात्म-निष्ठा है। यहाँ की वास्तु-कला (जो विशेषकर मन्दिर निर्माण में पनपी, पल्लवित हुई और मन्दिर के उत्तुङ्ग शिखर के समान ऊँची उठी) का आधार-भूत आधारभूत-प्रयोजन भारतीय जन-समाज की धार्मिक चेतना के विकास को मूर्त स्वरूप प्रदान करके उसके प्रतीकत्व का प्रकल्पन ही नहीं है वरन् इस देश के दर्शन एवं पुराण में प्रतिष्ठापित तत्त्वों के रहस्यों का निदर्शन है। यहाँ के मन्दिरों के निर्माण में जन-समाज की धार्मिक उपचेतना की महती निष्ठा से देवनिलय की भावना ही सर्वप्रधान है। मन्दिर का पीठ उसका कलेवर एवं उसका आकार एवं विस्तार तथा उत्सेध सभी इस भावना के प्रतीक हैं। प्रासाद वास्तु के विकास में हम देखेंगे कि किस पूजा-भावना से आदिम पूर्वजों ने पाषाण पट्टिकाओं (Dolmens and Menhirs) से तथा प्रस्तर [illegible] की [illegible] एवं [illegible] से [illegible] पूजा-गृहों की निर्मिति की यही परम्परा [illegible] रही परम्परा पुष्पित होती रही।

मानव देव [illegible] की कथा एकाङ्गी नहीं है। मानव देव [illegible] ऊपर उठता है तो उठते हुए मानव को देव [illegible] है। प्रासाद-वास्तु की [illegible] है। प्रासाद के [illegible] शिखर [illegible] के प्रतीक हैं [illegible] मानव [illegible] देव [illegible] है [illegible] के लिए [illegible] है [illegible] देव [illegible]

कुम्भ
कुम्भकर्णाश्रम
कुम्भकोण
कुम्भीश्वर
कुमुदाकर
कुमुद्वती (न०)
कुण्डलेश्वर
कुन्दवन
कुण्डेश्वर
कुण्डिन
कुण्डिप्रभ
कुण्डोद (प०)
कुब्जतीर्थ
कुरङ्ग
कुरूजाङ्गल
कुरूजाङ्गलारण्य
कुरुक्षेत्र
कुशप्लवन
कुशस्तम्भ
कुशस्थल
कुशस्थली
कुशतर्पण
कुशतीर्थ
कुशावर्त्त
कुशावती
कुशेशय
कुशिकाश्रम
कुशीवट
कूष्माण्डेश्वर
कुसुमेश्वर
कुटक
कुटशिला
लक्ष्मणाचल
लक्ष्मणतीर्थ
लक्ष्मणेश्वर
लक्ष्मीतीर्थ
ललिता

ललितक
लाङ्गलतीर्थ
लाङ्गलि-लिङ्ग
लाङ्गलिनी (न०)
लौहित्य
लौकिक
लवणा
लवणकतीर्थ
लाविढिका
लिङ्गसार
लिङ्गिजनार्दन
लोहदण्ड
लोहजंघवन
लोहकूट
लोहार्गल
लोहित
लोहितगङ्गक
लोकपाल
लोकपालेश्वर
लोकोद्धार
लोलार्क
लोणारकुण्ड
माडवावर्तनाग
माधवतीर्थ
माधववन
मधूदका (न०)
मधुकैटभलिङ्ग
मधूकवन
मधुकुल्या
मधुमती (न०)
मधुनन्दिनी (न०)
मधुपुर
मधुपुरी
मधुरा
मधुरातीर्थ
मधुश्रवा
मधुवन

मधुवती
मध्वतीर्थ
मधुविला (न०)
मध्यमपुष्कर
मध्यमेश्वरलिङ्ग
मध्यंनदिनीयकतीर्थ
मदोत्कट
मद्रा
मद्रवा (प०)
मागधारण्य
महाबल
महाभैरव
महाबोधितरु
महागङ्गा
महागौरी
महाह्रद
महाकाल
महाकालवन
महाकाशी
महाकूट
महालक्ष्मेश्वर
महालय
महालयकूप
महालयलिङ्ग
महालिङ्ग
महामुण्डा
महामुण्डेश्वर
महानाद
महानदी (न०)
महानल (लि०)
महानन्दा
महापद्मनाग
महापाशुपतेश्वर
महापुर
महारुद्र
महाशाल
महाशालनदी

की ओर उतरता हुआ (विशेषकर जैन-मन्दिरों में—देखो तेजपाल मन्दिर आबू पर्वत) भी प्रदर्शित है।

हिन्दू स्थापत्य के सर्वस्व हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के इस सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक धार्मिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण भी है जो जन-धर्म की आस्था का परिचायक है और जिसकी परम्परा पुराणों की पुण्य-भूमि पर पल्लवित हुई है। मन्दिर-निर्माण वापी, कूप एवं तड़ागादि निर्माण के समान पूर्त धर्म की संस्था है। आगे इस विषय पर विशेष समीक्षा पठनीय होगी। व्यवहारिक रूप से परोपकारार्थ भी धर्मार्थ समझा गया। प्राय सभी धर्माचार्यों ने परोपकारार्थ-निर्मित प्रपा (प्याऊ) एवं तडागादि की महिमा गाई है। पुरा-ग्रन्थों में तो इस संस्था का बड़ा ही गुण गान है। हिंदू-धर्मशास्त्रों मे वर्णित प्रतिष्ठा और उत्सर्ग का माहात्म्य इस पुरातन संस्था का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अत. आध्यात्मिक, धार्मिक एवं व्यावहारिक सभी दृष्टियों से हमें इस प्राचीन संस्था का मूल्याङ्कन करना होगा।

प्रस्तुत प्रासाद वास्तु को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमे सर्वप्रथम उसकी पृष्ठ-भूमि के उन प्राचीन गर्तों एवं आवर्तों का अन्वेषण करना है जिनके सुदृढ एवं सनातन, दिव्य एवं ओजस्वी, कान्त एवं शान्त, स्कन्धों पर हिन्दू-प्रासाद की बृहती शिलाओं का न्यास हुआ है। हिन्दू प्रासाद, हिन्दू संस्कृति, धर्म एवं दर्शन, प्रार्थना, मंत्र एवं तन्त्र, यज्ञ एवं चिन्तन, पुराण एवं काव्य, आगम एवं निगम, का पुञ्जीभूत मूर्त्त रूप है। भारतीय प्रासाद-रचना लौकिक कला पर आधारित नहीं है। सत्य तो यह है कि प्रासाद स्वयं लौकिक नहीं, वह अलौकिक एवं आध्यात्मिक तत्व की मूर्तिमती व्याख्या है। यह मूर्तिमान आकार ऐसे ही नहीं उदय हो गया। शताब्दियों की सांस्कृतिक प्रगतियों के संघर्ष से जो अन्त मे उपसंहार प्राप्त हुआ वही हिन्दू-प्रासाद है। इसकी पृष्ठ-भूमि के प्रविवेचन में भारतीय संस्कृति के विकास की नाना परम्पराओं—श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, आगमिक तथा दार्शनिक आदि की देन का मूल्याकन करना होगा। श्रुति स्मृति-पुराण-प्रतिपादित भारतीय धर्म की आत्मा से उद्भावित एवं भारतीय दर्शन की महाज्योति से उद्दीपित हिन्दू प्रासाद की व्याख्या मे जिन नाना पृष्ठ भूमियों के दर्शन करना है उनमें वैदिकी, पौराणिकी राजाश्रया, एवं लोक-धर्मिणी विशेष उल्लेख्य हैं। इन नाना पृष्ठ भूमियों की मीमांसा मे आगे के चार अध्यायों की अवतारणा की गई है। अत. इनके सम्बन्ध मे यहा विशेष सङ्कीर्तन आवश्यक नहीं। इस विषय-प्रवेश में पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि भारत का स्थापत्य अदेव-हेतुक बहुत कम रहा है। भारतीय स्थापत्य का मुकुटमणि किंवा उसकी सर्वातिशायिनी कला अथवा उसका मूर्तिमान स्वरूप (शरीर एवं प्राण) हिन्दू प्रासाद है। हिन्दू-संस्कृति की लोकव्यापिनी यह प्रोज्वल पताका है। हिन्दू-प्रासाद मानव कौशल की पराकाष्ठा ही नहीं देवत्व की प्रतिष्ठा का भी परम सोपान है। सागर एवं बिन्दु, जड़ एवं चेतन, आत्मा एवं परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या मे हिन्दू शास्त्रकारों ने कलम तोड़ रक्खी है। हिन्दू स्थपतियों ने भी अपनी छेनी और [illegible] आदि सूत्राष्टक (दे० भा० वा० शा० प्र० प्र० पृष्ठ २ तथा ८०) से वही कमाल किया है। क्रान्त-दर्शी मनीषी कवियों (ऋषियों) ने अपनी वाणी से जिस अध्यात्म-तत्व का [illegible] स्पन्द में छन्द-रचना एवं वर्ण-विन्यास के द्वारा जिस लोकोत्तर भावाभिव्यञ्जन का सम्पात किया है वही परिणाम

मेकल	नाभि	नन्दीश
मेकला (न०)	नडन्तिका	नन्दीशेश्वर
मेकला (प्रदेश)	नादेश्वर	नन्दीतट
मेखला	नदीश्वर	नन्दितीर्थ
मेरुकूट	नग	नारदकुण्ड
मेरुवर	नागधन्वन	नारदतीर्थ
मीनाक्षी	नागकूट	नारदेश्वर
मिरिकावन	नागपुर	नरक
मिश्रक	नागसाहृय	नरक (नार्मद)
मित्रपद	नागतीर्थ	नारसिंह
मित्रवन	नागेश्वर	नरसिंहाश्रम
मित्रावरुण	नागोद्भेद	नारसिंहतीर्थ
मित्रावरुणयोराश्रम	नहुषेश्वर	नारायणसरस
मोदागिरि	नैमिष (अरण्य)	नारायणाश्रम
मोक्षकेश्वर	नैमिष-कुञ्ज	नारायणस्थान
मोक्षराज	नैऋत्येश्वर	नारायणतीर्थ
मोक्षतीर्थ	नकुलगण	नारीतीर्थानि
मोक्षेश्वर	नाकुलेशतीर्थ	नर्मदा
मृगधूम	नकुली	नर्मदाप्रभव
मृगकामा	नकुलीश	नर्मदेश
मृगशृंगोदक	नकुलीश्वर	नर्मदेश्वर
मृत्युञ्जय	नलकूबरेश्वर	नासिक्य
मुचुकुन्द	नलिनी	नौबन्धन
मुचुकुन्देश्वर	नन्दा	नौबन्धनसरस
मुक्तिक्षेत्र	नन्दना	नेपाल
मुक्तिमत	नन्दनवन	निगमोद्बोधक
मुक्तिस्थान	नन्दासरस्वती	निश्चीरा
मुकुटा (न०)	नन्दावरी (न०)	निश्चीरासङ्गम
मूलस्थान	नन्दिग्राम	नीलाचल (प०)
मूलतापी	नन्दिगुहा	नीलगङ्गा
मूली (न०)	नन्दिक्षेत्र	नीलकण्ठलिङ्ग
मुण्डपृष्ठ	नन्दिकेश	नीलकण्ठतीर्थ
मुण्डेश	नन्दिकुण्ड	नीलकुण्ड
मूजवत	नन्दिकूट	नीलनाग
मुञ्जवत्	नन्दिनी (न०)	नीलपर्वत
मुञ्जवट	नन्दिनी-सङ्गम	नीलतीर्थ
मुर्मुरा	नन्दिपर्वत	नीलवन

प्रख्यात स्थपतियों की इन महाविभूतियों में भी पाया गया है। इष्टका एवं पाषाण की इस रचना में धर्म एवं दर्शन ने प्राण-सञ्चार करवाया है। अतः इस मौलिक आधार के मूल्याङ्कन बिना, हिन्दू-प्रासाद की वास्तु-शास्त्रीय अथवा वास्तु-कलात्मक व्याख्या अथवा विवेचना अधूरी है।

भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म से अनुप्राणित रहा। जीवन की सफलता में लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा पारलौकिक निःश्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा। पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना मार्गों का निर्देश है। प्रार्थना, मन्त्रोच्चारण, यज्ञ, चिन्तन-ध्यान, योग-वैराग्य, जप तप, पूजा-पाठ, तीर्थ यात्रा, देव-दर्शन, देवालय-निर्माण—एक शब्द में इष्ट और पूर्त (इष्टापूर्त) की विभिन्न संस्थाओं एवं परम्पराओं ने सनातन से इस साधना-पथ पर पाथेय का काम किया है।

मानव-सभ्यता की कहानी में मानव की धर्म पिपासा, एवं आध्यात्म-जिज्ञासा ने उसे पशुता में अपने को आत्मसात् करने से बचाया है। प्रत्येक मानव का बौद्धिक स्तर एक सा नहीं, उसका मानसिक क्षितिज भी एक सा विस्तृत नहीं। उसकी रागात्मिका प्रवृत्ति भी एक सी नहीं। उसका आध्यात्मिक उन्मेष भी सर्व-समान नहीं। अतः मानवों की विभिन्न कोटियों के अनुरूप, साध्य पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना साधना-पथों का निर्माण हुआ। मार्ग अनेक अवश्य हैं लक्ष्य तो एक ही है। वह लक्ष्य है देवत्व-प्राप्ति। संसार, मानवता एवं देवत्व के पार्थक्य का, कोलाहल है। इस कोलाहल का शब्द उस दिव्य स्वर्ग में नहीं सुनाई देता जहाँ मानव-देव-मिलन है। संसार यात्रा एवं मानव का ऐहिक जीवन दोनों ही उस परम लक्ष्य की प्राप्ति की प्रयोगशाला है। देशकाल की सीमाओं ने यद्यपि उस लक्ष्य की ओर जाने के लिए अगणित मार्गों का निर्माण किया है परन्तु विश्वास्वाद की दृष्टि से देव पूजा, देव-प्रतिष्ठा एवं देवालय-निर्माण, भारत की सर्वाधिक प्रशस्त, व्यापक एवं सर्व लोकोपकारी संस्था साबित हुई है। तपोवन तपस्वियों एवं गगन-वन मानियों से लेकर साधारण से साधारण विद्या-बुद्धि वाले प्राकृत जनों—सभी का यह मनोरम एवं सरल साधनापथ है।

अस्तु, हिन्दू प्रासाद अथवा 'प्रासाद-वास्तु' की समीक्षा के इस ग्रन्थ में इसी आधार-मौलिक दृष्टि से जहाँ आगे 'पूर्वपीठिका' में वास्तु शास्त्रीय विभिन्न सिद्धान्तों (Canons) के उद्घाटन का प्रसङ्ग होगा। अथवा 'उत्तर-पीठिका' में जहाँ शास्त्र एवं कला के समन्वय की दृष्टि से विभिन्न कालों में निर्मित विमानों एवं प्रासादों का समीक्षण होगा वहाँ इस 'पृष्ठ-भूमि' में प्रासाद की पृष्ठ-भूमि के कतिपय तत्त्वों एवं आदर्शों की गहराई का अनुमान भी आवश्यक है।

अन्त में इस 'विषय-प्रवेश' को समाप्त करने के प्रथम इस 'पृष्ठ-भूमि' के आगे के अध्यायों के विवेच्य विषय पर एक दो सङ्केत आवश्यक हैं। 'हिन्दू-प्रासाद' की पृष्ठ-भूमि के मूल्याङ्कन में तीन दृष्टिकोण प्रधान हैं—कलात्मक, दार्शनिक एवं धार्मिक। प्रथम से तात्पर्य उसके कलेवर के नाना अङ्गों एवं उपाङ्गों की रचनाओं एवं निवेशों से है। 'प्रासाद-निवेश' की कलात्मक समीक्षा का एक दृष्टिकोण यहाँ भी रहेगा। किसी भी कला के दो पक्ष—अर्थ एवं शब्द (वाचिक एवं अर्थ पिंड) अनिवार्य हैं अन्यथा वह कला ही नहीं। इस दृष्टि से प्रस्तुत समीक्षा में प्रासाद-निर्माण के नाना निवेश-सिद्धान्तों में जो दैविक।

शंखतीर्थ
शंखिणीतीर्थ
शंखोद्धार
शंकुकर्ण
शंकुकर्णेश्वर
शंकुणिका
सन्निहिता
सन्निहती
सन्निहत्यसरस
सन्नीति
सान्तेश्वर
सप्तचरुतीर्थ
सप्तधारा
सप्तगङ्गा
सप्तगोदावर
सप्तनद
सप्तकोटीश्वर
सप्तपुष्करिणी
सप्तार्प
सप्तर्पिकुण्ड
सप्तसागरलिङ्ग
सप्तसामुद्रक
सप्तसामुद्रक-कूप
सप्तसारस्वत
सप्तवती
शरभंगकुण्ड
शरभंगाश्रम
शरविन्दु
शारदातीर्थ
सरक
सरस्तम्भ
सारस्वत
सारस्वतलिंग
सारस्वततीर्थ
सरस्वती
सरस्वती-अरुणा-स०
सरस्वतीपतन

सरस्वती-सागर-स०
सरावती
सरयू
शार्दूल
सर्गविन्दु
सर्कगवर्ता (न०)
सर्वहृद
सवतीर्थ
सर्वतीर्थेश्वर
सर्वात्मक
सर्वायुध
शशाकेश्वर
शशयान
षष्टिहृद
शतद्रु
शतकुम्भा
शतरुद्रा
शतसहस्रक
शतशृङ्ग
शातातपेश्वर
शतिकतीर्थ
सत्यवती
सौभद्रा
सौकर्व
शौर्पारक
सौगन्धिकगिरि
सौगन्धिकवन
सौमित्रिसंगम
शौनकेश्वरकुण्ड
शार्वणीश्वर
सावित्रपद
सावित्री (न०)
सावित्रीश्वर
सावित्रीतीर्थ
शेषतीर्थ
सेतु
सेतुबन्ध

सिद्धकेश्वर
सिद्धपद
सिद्धपुर
सिद्धतीर्थ
सिद्धवन
सिद्धवट
सिद्धेश्वर (लि०)
सिद्धेश्वर
सिद्धिकूट
शिखितीर्थ
शिलातीर्थ
शिलाक्षेश्वर
सिह
सिन्धु
सिन्धुप्रभव
सिन्धुसागर
सिन्धुसागरसंगम
सिन्धूत्तम
शिफा (न०)
शिप्रा (न०)
सिता (न०)
सितातीर्थ
सीतवन
शिवधार
शिवहृद
शिवकाञ्ची
शिवनदी
शिवसरस्वती
शिवोद्भेद
स्कन्दतीर्थ
स्कन्देश्वर
श्लेष्मान्तकवन
श्मशान
श्मशानस्तम्भ
स्नानकुण्ड
सोदरनाग
सोमकुण्ड

में केवल एक ही दो तथ्यों पर विशेष विचार अभीष्ट है। आगे चलकर हम इस विषय पर विशेष विचार करेंगे (दे० प्रासाद-वास्तु—जन्म एवं विकास)। दूसरे से यथानाम दार्शनिक दृष्टिकोण से है जिसका विशेष समुद्घाटन तो आगे चलकर 'प्रासाद' शब्द के वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ—दोनों की मीमासा में होगा। परन्तु प्रासाद के निवेश के प्राथमिक अङ्ग वास्तु-पुरुष-मण्डल की एतद्विषयिणी समीक्षा (दे० वैदिकी) में इस दृष्टि मे कुछ प्रयत्न इसी पृष्ठ-भूमि पर किया जायेगा। तीसरे अर्थात् धार्मिक दृष्टि-कोण से पुनः दो अवान्तर शाखायें प्रस्फुटित होती हैं एक तो पौराणिक धर्म में प्रतिपादित पूर्त-व्यवस्था—देवालय, कूप, तड़ाग, वापी आदि के निर्माण की परोपकारार्थ (धर्मार्थ) परम्परा तथा दूसरी इसका जन-समाज विशेषकर राजाओं एवं समृद्ध एव सम्पन्न व्यक्तियों पर प्रभाव तथा उनके आश्रय से इस सस्था का दैनन्दिन विपुल प्रसार तथा उसके द्वारा प्रासाद-निर्माण का लोकोत्तर उत्थान। इन दोनों दृष्टियों की समीक्षा में आगे के तीन अध्यायों 'पौराणिकी', 'राजाश्रया' एव 'लोक-धर्मिणी' की सृष्टि की गयी है।

१

वैदिकी

'प्रासाद' या 'विमान' देव-गृह ही नहीं पूजा-गृह भी हैं। इस देश में उन उपासना-गृहों या स्थलों को, जिनको हम मन्दिरों या प्रासादों या विमानों के नाम से पुकारते हैं, उनके पूर्व भी तो किसी न किसी रूप में पूजागृहों की परम्परा अनिवार्य थी ही। आवास, भोजन एवं आच्छादन—इन तीन अनिवार्य मानवीय आवश्यकताओं के साथ अर्ध-सभ्य की अवस्था में भी उपासना भी मानव की अनिवार्य आवश्यकता रही। सभ्य मानव की तो वह अभिन्न सहचरी रही—इसमें किसी का वैमत्य नहीं।

यद्यपि मानव-सभ्यता के विकास में देश-विशेष में उसके भौतिक अथवा आध्यात्मिक इन दोनों पक्षों में अन्यतर के विशेष विकास का संकीर्तन किया जाता है परन्तु सत्य तो यह है कि जाति-विशेष की सभ्यता एवं संस्कृति का उत्थान भौतिक पक्ष की ओर विशेष झुका अथवा आध्यात्मिक, देवोपासना का उसमें अनिवार्य संसर्ग रहा। अतः इसी सनातन सत्य के अनुरूप इस देश में प्रासाद-देवालय अथवा प्रासाद-पूजागृहों के पूर्व भी कोई न कोई अवश्य संस्था या परम्परा थी। उपासना के नाना रूपों में प्रार्थना, यज्ञ, उपचार, आदि ही विशेष प्रसिद्ध हैं। हम जानते ही हैं कि प्राचीन भारतीय आर्यों की उपासना का आदिम स्वरूप प्रार्थना-प्रधान या स्तुति-प्रधान था; पुनः आगे चलकर आहुति-प्रधान। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद इन्हीं दो परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद में अनेक देवों के प्रति जो स्तुतियाँ-ऋचायें हैं उनमें 'वास्तोष्पति' की जो प्रकल्पना है वह प्रासाद के वास्तु मण्डल अथवा वास्तु शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-निवेश-परम्परा का प्राचीन बीज प्रस्तुत करता है। भारत के अष्टाङ्ग स्थापत्य में वास्तु-पुरुष-प्रकल्पन स्थपति की प्रथम योग्यता एवं साधना है (भा० था० शा० ग्रन्थ प्रथम, पृष्ठ ७१)—यह हम कह ही आये हैं। इस प्रकार हिन्दू-प्रासाद के नाना निवेशों—वास्तु-निवेश (Site-plan), पीठ-प्रकल्पन (जगती रचना), गर्भ गृह-विन्यास (अर्थात् विमानोत्थान), मंडप-निवेश, शाला-विन्यास आदि की विकसित परम्पराओं में वैदिक पृष्ठ-भूमि ने कौन-कौन से इस दिशा में घटक प्रदान किये—यह विचारणीय है।

इस अध्याय में हम केवल वास्तु-निवेश तक ही विवेचन सीमित रखेंगे। आगे के एतद्विषयक अध्याय में अन्य प्रश्नों पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीय स्थापत्य यज्ञीय कर्म के समान एक धार्मिक संस्कार (religious rite) है। अतएव वास्तु-कार्य का कर्ता स्थपति 'पुरोहित' एवं कारक—गृहपति 'यजमान' के रूप में प्रकल्पित हैं। अथच जिस प्रकार यज्ञ-कर्म-काण्ड में पुरोहितों में एक प्रधान आचार्य (ब्रह्मा) होता है, जो उस यज्ञ का अधिष्ठाता-अध्यक्ष कहलाता है, उसी प्रकार वास्तु-कर्म में स्थपति एवं उसके अन्य साथी (सूत्र-ग्राही, तक्षक एवं वर्धकि) भी स्थापक-आचार्य

की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। प्रासाद-निर्माण मे एक वार नही अनेक वार स्थापक-आचार्य के निर्देश से यज्ञीय कर्मों के द्वारा वास्तु-कर्म को सम्पन्न किया जाता है।

वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य-शास्त्र वैदिक वाङ्मय की तंत्र शाखा से सम्वन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का अङ्ग है। ऊपर हम निर्देश कर आये हैं कि वास्तु-कर्म यज्ञ-कर्म है, अतः इस दृष्टि से वास्तु-शास्त्र वेदाङ्ग-षट्क में दो अङ्गों की पृष्ठ-भूमि पर पनपा है। ये दो अङ्ग हैं—ज्योतिष तथा कल्प। भारतीय स्थापत्य मे ज्योतिष एवं कल्प दोनो का ही प्रचुर समावेश है (भा० वा० शा० भाग १ पृष्ठ ५६)।

वास्तु पुरुष-मण्डल हिन्दू प्रासाद का नक्शा (मानचित्र) है। नारदीय वास्तु-विधान (अ० ८ तथा १०) के अनुसार यह मण्डल यन्त्र है। यन्त्र एक प्रकार की रैखिक योजना है जिसमें परम-तत्व का कोई भी रूप (aspect) किसी भी पावन स्थान पर पूजार्थ बाँधा (यन्त्र शब्द में 'यम' धातु बन्धनार्थक है) जा सकता है। इस प्रकार प्रासाद के वास्तु-मंडल में तदायत्ता भूमि सीमिति होने पर भी इस यन्त्र के द्वारा असीम की व्यापकता का प्रतीक बन जाती है और अनाम एव अरूप जिस सत्ता को इस मण्डल में बाधने का प्रयास है उसकी सज्ञा वास्तु-पुरुष है। इस प्रकार इस मन्डल के चार उपकरणों—मण्डलाकार वास्तु-पद, उसका अधिष्ठाता वास्तु पुरुष एव मन्डल-सज्ञाओं में से वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-कल्पना म वैदिक वास्तोष्पति की पृष्ठ भूमि तो नियत ही है, मन्डलाधार 'धरा' की दृढता (stability) के सम्बन्ध में नाना वैदिक प्रवचन पोषक प्रमाण है—ऋ० दशम १२१-५ तथा १७३-४, श० ब्रा० षष्ठ ११-१५, वाजसनेय-सहिता एकादश ६९—इसी प्रकार तै० स० एव गृह्य सूत्रों में भी निर्देश हैं। महाराज पृथु के पौराणिक गोदोहन अथवा भू-समीकरण-वृत्तान्त का हम निर्देश कर चुके हैं तथा उसके मर्म पर भी इङ्गित कर चुके हैं—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, पृ० ५८-६१, तदनुरूप यह पृथु, जो वास्तव में धर्मराज (यमराज) का मूल-पुरुष (prototype) है, वह श० ब्रा० (चतुर्विन्श ३-२-४) के एतद्विषयक प्रवचन स परिपुष्ट होता है।

वास्तु चक्र-निर्माण के पूर्व भू-परीक्षा आवश्यक है। इस परीक्षा म भू-कर्षण, अंकुरारोपण एवं समीकरण की प्रक्रियायें भी वैदिक व्यवस्थाय हैं क्योंकि किसी भी यज्ञ-सम्पादन मे आवश्यक यज्ञ स्थल-चयन एव उस पर वेदि-निर्माण—ये प्रक्रियायें एक अनिवार्य अङ्ग हैं। प्रासाद-निर्माण में आवश्यक वैदिक कर्मकाण्ड प्राथमिक सस्कार ही नहीं वे उसके पूरक एव अभिन्न अङ्ग हैं। कण्वसहिता (विंशति ३-४), मैत्रायणी-संहिता (तृतीय २-४५), श० ब्रा० (सप्तम २ २ १–१४) आदि में निर्दिष्ट 'अग्नि-चयन' के पूर्व भू कर्षण एव अकुरार्पण की प्रक्रिया प्राथमिक मानी गई है। यही प्रक्रिया आगे चलकर प्रासाद निर्माण का भी अभिन्न प्राथमिक अङ्ग है। सोम-यज्ञ के 'प्रायणीय' के उपरान्त वेदि-भूमि का द्वादश वृषभों के द्वारा कर्षण एव अकुरार्पण का उल्लेख है। अग्नि चयन में महावेदी के निर्माण एवं यज्ञीय-भूमि पर अकुरार्पण स लगाकर 'मङ्गलाकुर' की प्रक्रिया पूजा-वास्तु का सदैव अभिन्न अङ्ग रही (कामिकागम ३१ १८)। अथर्ववेद (पंचम २५. २) का भी तो यही उद्घोष है।

प्रासाद के गर्भ-गृह की वैदिकी पृष्ठ-भूमि में वैदिक-वेदि का अंकुरार्पण मूलाधार है। प्रासाद का कलेवर, जो इस गर्भ से ही विकसित होता है, भूमि के तत्व को आत्मसात् ही नहीं करता है वरन् उसे दूसरे ही तत्व में परिवर्तित कर देता है। भू (पृथ्वी) समीकृत होकर 'भूमि' कहलाती है। प्रासाद का आकार भू-शक्ति से उत्पन्न होता है परन्तु उसका रूप भूमि पर निवेश्य पद का अनुगामी है। अथच भू-कर्षण, भू-समीकरण एवं अंकुरार्पण के साथ साथ 'भूत-बलि' की पुरातन प्रथा भी स्मरणीय है। निवेश्य प्रासाद-पद (the site of the temple) के निवासी भूत गणों (spirits) की वहाँ से उनकी विदाई ही अभीष्ट नहीं है वरन् चयित पद पर प्रथम बलि भी है जिससे निराकार परमेश्वर की साकार प्रतिकृति प्रासाद उस स्थल पर पनप सके। श० ब्रा० (प्रथम २. ३. ६–७) इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। इसी पुरातन परम्परा के अनुरूप मयमत (चतुर्थ १–८) का निम्न प्रवचन उल्लेख्य है:

आकारवर्णशब्दादिगुणोपेतं भुवः स्थलम्।
संगृह्य स्थपतिः प्राज्ञो दत्वा देवबलिं पुनः॥
स्वस्तिवाचकघोषेण जयशब्दादिमङ्गलैः।
अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सराक्षसाः॥
वासान्तरं व्रजन्त्वस्मात् कुर्यां भूपरिग्रहम्।
इति मन्त्रं समुच्चार्य विहिते भूपरिग्रहे॥
कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत्।
दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च॥
सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत्।
यतो गोभिः परिक्रान्तमुपघ्रातैश्च पूजितम्॥
सहवृषपनादैश्च निघातैः कलुषीकृतम्।
वत्स वक्त्र-च्युतैः फेनैः संस्कृतं प्रस्नवैरपि॥
स्नातं गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषैः सलेपनम्।
च्युतरोमन्थनोद्गारैर्गोरसैः कृतकौतुकम्॥
गोगन्धेन समाविष्टं पुण्यतोयैः शुभं पुनः।

मनुस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है :—

समार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः॥

मनु० ४—१२४

भू-कर्षण की पुरातन प्रथा पर मानसार का मत भी पठनीय है—अ० ५.

अस्तु, भू-कर्षणादि प्रक्रियाओं से समीकृत भूमि अब वास्तु-पुरुष-मण्डल (जो प्रासाद का आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं भौतिक कलेवर है) के निर्माण के लिये उपयुक्त है। 'पृथिवी' सीता अर्थात् कृष्टभूमि—[illegible] पर भूमि कर्षण [illegible] है। पृथ्वी पर धर्म शास्त्र की प्रथम व्यवस्था के लिये भू-परीक्षण ([illegible])

प्रथम अङ्ग है। महात्मा बुद्ध के जन्म के अवसर उनके चरणों के स्पर्श के लिये पृथिवी अपने आप बराबर और कोमल बन गई जिससे भूतल पर धर्म चक्र का सार्वभौमिक प्रचार सुकर एवं सफल हो सके।

यज्ञ-वेदी के समान यह प्रासाद भी वेदिका है। श० ब्रा० (प्रथम २ ५ ७) वेदि की व्याख्या करता हुआ उसे देव-भूमि बताता है। देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ही यहाँ (यज्ञ-वेदी के चारों कोणों पर) पर लाकर रख दिया है। इस दृष्टि से 'वेदी' पृथ्वी का 'प्रतीक' (symbol) है। देव-भूमि 'वेदी' एवं देवालय 'प्रासाद' का यह तादात्म्य कितना रोचक है। प्रासाद का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदी की पुरातन परम्परा का ही प्रोल्लास है—यह शनैः-शनैः हमारी समझ में आ रहा है।

प्रासाद के वास्तु-पुरुष-मण्डल के औपोद्घातिक प्राचीन मर्मोद्घाटन में एक तथ्य और यहा निर्देश्य है, वह यह कि सूर्योदय के साथ इसकी आनुषंगिकता संकेतित है। सुश्री कुमारी डा० क्रामरिश (see H T p 17) का एतद्-विषयक निम्न उद्धरण बड़ा ही तथ्योद्घाटक है: —

'The surface of the earth, in traditional Indian Cosmology, is regarded as demarcated by sunrise and sunset, by the points where the sun apparently emerges above and sinks below the horizon, by the East and West and also by the North and South points It is therefore represented by the ideogram or mandala of a Square [F N 44—The square dose not refer to the outline of the earth It connects the 4 points established by the primary pairs of opposites, the apparent sunrise and sunset points, East and West, and South and North The earth is therefore called 'Caturbhrsti' four-cornered (Rv X 58 3) and is symbolically shown as Prithivi-mandala, whereas considerd in itself, the shape of the earth is circular, (Rv X 89 4, S B VII I I 37)] The identification of the square with the Vedi is in shape only and not in size and belongs to the symbolism of the Hindu Temple The Vedi represents and is levelled earth, a place of sarifice or worship 'No part of the ground should rise above it, for it was from there that the gods ascended to heaven' (Ś B III 1 1 1-2) The site, the earth should be even and firm for it is the starting place of the ascent (Ś B VIII 5 2 16) The link between the earth and the end of the ascent stretches upward into space, the intermediate region (antriksa) From it also it leads downward and rests on earth In it the temple has its elevation The Vastu-purusadmandala, the temple-diagram and metaphysical plan is laid out on the firm and level ground, it is the intellectual foundation of the building, a forecast of its ascent and its projection on earth'

ऊपर ऋग्वेद की 'चतुर्भृष्टि' में पृथिवी-मण्डल अर्थात् वास्तु-मण्डल की वैदिक पृष्ठ-भूमि का आभास दिया जा चुका है। अब यह देखना है कि वास्तु-शास्त्रों में प्रतिपादित नाना आकृतियों के वास्तु-मण्डलों मे वैदिक उत्पत्ति-प्रकृति कहा तक संगत होती है? वास्तु-पदों के अनेक आकारों मे चतुरश्राकार एव गोलाकार सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनों

आकार भारतवर्ष की वास्तु-कला में वैदिकवेदिका एवं अग्नि से आये हैं। वेदिका एवं अग्नि दोनों ही एक ही संज्ञा में हैं। वास्तु-मण्डल के चतुरश्राकार एवं वर्तुलाकार के वैदिक जन्म के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय में आगे दूसरे स्तम्भ में विशेष विचार करेंगे। यहाँ पर प्रथम वास्तु-पुरुष के वैदिक जन्म पर थोड़ा सा और विवेचन वाञ्छित है।

वास्तु-पुरुष 'वास्तोष्पत्ति' नामक प्राचीन वैदिक देवता का ही आवान्तर रूप है। रुद्र-प्रजापति ने उषा के साथ शादी की और उससे चार पुत्र उत्पन्न हुये। चौथे का नाम वास्तोष्पति या गृहपति-अग्नि नाम पड़ा। सायणाचार्य (दे० भाष्य ऋ० दशम० ६१.७) ने इसकी 'यज्ञ-वास्तु-स्वामी' यह संज्ञा दी है। जो यज्ञीय-कर्म का रक्षक था एवं यज्ञ-वेदी का अधिनायक था वही आगे चलकर सभी भवनों के पदों का स्वामी बना।

वास्तु-पुरुष में असुरत्व का आविर्भाव भी वैदिक है। वैसे तो अपनी मौलिक (original) प्रकृति (aspect) में 'गृह-रक्षक' के रूप में प्रकल्पित है (दे० निरुक्त दशम० १६), परन्तु वह और सभी रूप ले लेता है (दे० ऋ० सप्तम ५५.१, पा० गृ० सू० तृतीय ४.७)। वह रुद्र है अतएव वह पृथिवी पर फैलता है जहाँ पर उसका आधिराज्य अग्नि के आधिराज्य से एकान्वित हो जाता है क्योंकि रुद्र एवं अग्नि तत्वतः एक ही हैं—(दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ चतुर्थ पृष्ठ ६६)।

अग्नि का कार्य-क्षेत्र (sphere) भू पर है (निरु० सप्तम ५.) ऋग्वेद। (दे० प्रथम ६०.४, पंचम ६. १-२; ७-६; ८-१ तथा षष्ठ १६. २४, ४८. ८-२) में वह 'गृहपति' 'वासक' आदि संज्ञाओं में संकीर्तित है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम ५-२८) उसे देवों में 'वसु' के नाम से पुकारता है। अष्ट वसुओं के कार्य से हम परिचित ही हैं। शतपथ ब्राह्मण (दे० षष्ठ १-२-६) इन वसुओं को मानवों को बसाने का कार्य सौंपता है। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवता वसुओं के नाम से उद्घोषित किये गये हैं।

ऋग्वेद (षष्ठ ४६ ६) में प्रजापति, सोम, अग्नि, धाता गृह-पति के रूप में सम्बोधित हैं, ये सभी वसुदेव 'वास्तु-मण्डल' के अभिन्न एवं प्रधान पद-देव प्रकल्पित किये गये हैं।

वास्तोष्पति (अग्नि-प्रजापति) भवन का स्वामी है और पृथिवी गृह-स्वामिनी। वास्तु-स्वामी वास्तोष्पति एवं वास्त्वाधार धरा का यह दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तु कर्म के अभिन्न प्राथमिक अंग भू-कर्षण, समीकरण आदि प्रक्रियाओं से उपयुक्त भू पर अंकुरार्पण एवं गर्भाधान का मर्मोद्घाटन करता है। अतएव वास्तु-पूजा एवं वसु-पूजा दोनों ही प्रासाद-निर्माण के वास्तु-कर्म के अभिन्न अंग हैं। सुश्री क्रमरिश ने (दे० H T p 46) में वास्तु-पुरुष की इस दृष्टि से जो व्याख्या की है वह कितनी ओजस्वी एवं सच्ची है:

". ....'Vāstu now is its name. Its image is that of the Puruṣa, the place of reference in which man beholds the identity of macrocosm and microcosm On its appeased being and form spread out the ground he sets up the temple, the monument of his own transformation Its superstructure points to the origin of the primeval descent, it is undone by the ascent step by step, shape by shape, along the body of the temple. This body once more, in concrete form (mūrti) made by art, is that of the Puruṣa, arisen'

अष्टाङ्ग स्थापत्य का प्रथम अङ्ग ("तेष्वङ्गं प्रथम प्रोक्तं वास्तु-पुंसो विकल्पना" स० सू० ४८-२) एवं हिन्दू-प्रासाद-निर्माण की पूरी की पूरी इन्जीनियरिंग (i e Temple-plan) वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन मौलिक स्वरूप हैं—परा, सूक्ष्म तथा स्थूल। मण्डल (चतुरश्राकार पद) उसका स्थूल रूप है जो वास्तव मे वास्तु-पुरुष एव उसके विभिन्न अंगों पर अधिष्ठातृ-देवगण (सूक्ष्म रूप) तथा उनमे प्रतिकल्पित निराकार ब्रह्म का परम तत्त्व ('परा' रूप—Metaphysical aspect) का ही प्रतीक है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन अङ्गों—वास्तु (परा), पुरुष (सूक्ष्म) एव मण्डल (स्थूल) की दृष्टि मे यह व्याख्या है। अतः मण्डल (स्थूल रूप) की पृष्ठभूमि पर प्रविवेचन प्रथम प्राप्त था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय मे संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् के अनन्तर ही वेदाङ्ग—सूत्र-ग्रन्थ (अर्थात् कल्प एवं ज्योतिष) का परिगणन किया जाता है। वास्तु पुरुष में प्राचीनतम वैदिक देव 'वास्तोष्पति' का सर्वतो विलास होने के कारण हमने वास्तु-पुरुष मण्डल के सूक्ष्म रूप पर प्रथम प्रवचन किया। जहाँ तक उसके नाना अङ्गों के अधिष्ठातृ-देवगण की प्रविवेचना है वह हम अपने भारतीय वास्तु शास्त्र ग्रन्थ प्रथम—वा० वि० एवं पु० नि० पृ० १५१-७ में कर आये हैं। रहा 'परा' रूप अर्थात् वास्तु उस पर भी हम कुछ निर्देश कर चुके हैं (वहीं)। यहाँ पर वास्तु पुरुष मण्डल के स्थूल रूप अर्थात् पद-चक्र की मीमांसा विशेष अभीष्ट है।

इस स्थूल रूप की मीमांसा मे 'परा-रूप' 'वास्तु' पर भी थोड़ा सा उपोद्घात आवश्यक है। 'वास्तु' वस्तु का विकास है एवं निविष्ट पद (Planned site) की संज्ञा है। इसका मौलिक आकार चतुरश्र है। वास्तु सनियमित सत्ता के विस्तार का प्रतीक है और इसी हेतु उसका 'पुरुष' के सादृश्य में प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। विराट पुरुष—पुरुष की मूर्ति और निविष्ट-पद दोनों एक हैं एवं तदात्मक भी हैं।

'मण्डल' से किसी भी आयत (Polygon) का संकेत हो सकता है। वास्तु पुरुष मण्डल का मौलिक आकार तो चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान-क्षेत्र वाले आकार--त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, वर्तुल आदि में परिवर्तित किया जा सकता है।

हिन्दू स्थापत्य में वास्तु-पुरुष-मण्डल का किसी भी भवन के पद विन्यास (Site plan), स्थान-निवेश (ground plan) एव अन्य एतद्सम्बन्धी विभाजन यथा Vertical section के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा गीत एव रागों का। वास्तु शास्त्र में प्रतिपादित तलच्छन्द अथवा अधश्छन्द एव ऊर्ध्वच्छन्द का यही मर्म है। इस दृष्टि से हिन्दुओं की वास्तु-कला के सभी वर्गों के भवनों के विन्यास मे वा० पु० म० एक प्रथम एव अभिन्न अंग है। भवन के सभी विन्यास-पद, स्थान, उर्ध्वच्छन्दादि (Vertical and horizontal sections) का वा० पु० म० ही नियामक है। हमे अब यह देखना है कि इसकी पृष्ठ-भूमि में वैदिक जन्म (Vedic origin) कहाँ तक संगत है।

यह पीछे निर्देश किया जा चुका है कि वा० पु० म० का मौलिक आकार 'चतुरश्र' है। यह आकार भारतीय स्थापत्य का मूलभूत आकार है। सूत्र-ग्रन्थों (दे० बौधा० शु० सू० प्रथम २२ २८) मे 'चतुरश्रीकरण' पर प्रवचन है। 'चतुरश्रीकरण' में 'वर्तुल' निहित

है और उसी 'वर्तुल' से ही चतुरश्रीकरण' प्रतिफलित होता है। चतुरश्राकार नियामक है और उदीयमान जीवन का प्रतीक है और मृत्यु के बाद भी जीवन की पूर्णता।

'चतुरश्र' और 'वर्तुल' ये दोनों ही आकार वैदिक चिति—अग्नि (Fire Altar) से आये हैं और भारतीय स्थापत्य के मूलाधार आकार बन गये हैं। प्राचीन-वंश-शाला की तीन वेदिकाओं [मध्य में पूर्व-पश्चिम रेखा (प्राचीन वंश) पर स्थित दो, और एक दक्षिणामुखी-रेखा पर] से हम परिचित ही हैं। इनमें प्रागुक्त पूर्व-पश्चिम वाली वेदिकाओं में से पूर्व-कोणस्था वेदिका चतुरश्रा होती है और पश्चिमकोणस्था वेदिका वर्तुला। चतुरश्रा पर 'आहवनीय' अग्नि तथा वर्तुला पर 'गार्हपत्य' अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। तीसरी वेदी की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है। इन तीनों के आधिराज्य क्रमशः द्यौः, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष हैं (श० ब्रा० द्वादश ४.१.३)। यज्ञशाला (विशेषकर सोमादि यज्ञों में) में अन्य अनेक वेदियाँ विनिर्मित होती हैं जिनकी प्रायः सभी की आकृतियाँ 'चतुरश्रा' होती हैं - उत्तर-वेदी (जो सर्वप्रधान वेदी है) एवं आहवनीय अग्नि की वेदिका की तो आकृति चतुरश्रा है ही उ० वे० की 'नाभि' एवं 'उत्तर' की भी वही आकृति होती है।

अथच इन सभी नैत्यिक यज्ञों की वेदियों (आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणा) एवं नैमित्तिक (सोमादि) की वेदियों (महावेदी या सौमिकी तथा उस पर उत्तर-वेदी आदि) की निर्मिति, आकृति एवं प्रयोजन सभी प्रासाद-निर्माण के लिये मूलाधार प्रदान करते हैं। वैदिक परम्परा में वेदी पृथिवी के पृथुल विस्तार का प्रतीक है, यज्ञीय कर्मकाण्ड की तो वह क्षेत्रमात्र है। इसकी आकृति बदलती रहती है। सीमित क्षेत्र का यह उपलक्षण-मात्र है न कि निश्चित आकृति। श० ब्रा० (सप्तम ३-१-२७) का यह प्रवचन कि- वेदी पृथ्वी है और अन्तर्वेदी द्यौ.—कितना संगत है।

हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमि में यह वैदिकी चतुरश्रा वेदी ही पावन क्षेत्र प्रदान करती है। पृथिवी का वर्तुल रूप तिरोहित होकर द्यौ. की पूर्णता में परिणत हो जाता है। अतएव, उसी पूर्णता के प्रतीकत्व में उसे चतुरश्रा परिकल्पित किया जाता है। चतुरश्रा वेदी एवं वर्तुला पृथिवी का अन्योन्य तादात्म्य इसी मर्म का प्रतिपादक है।

अथच यागोपलाक्षणिक एवं प्रासाद वास्तुक चतुरश्राकार पुनः नाना आकारों में परिवर्तित होता है। यह परिणिति एकमात्र वास्तु शास्त्रीय परम्परा ही नहीं जिसमें एक से लगाकर ३२ तक (दे० मानसार) के वास्तु-पदों की नानाकृति-निर्मिति प्रतिपादित है। अपितु सूत्र साहित्य (दे० बौधायन शुल्व-सूत्र आदि) में भी यह परम्परा प्रचलित हो चुकी थी।

अस्तु, अब इस सम्बन्ध में अवशेष कथन 'प्रासाद-वास्तु—जन्म एवं विकास'—नामक आगे के अध्याय में किया जायेगा, परन्तु वैदिक वेदि-रचना के प्रतिपादक शुल्वसूत्रों, (जो कल्प-सूत्रों के ही अवान्तर पुञ्ज हैं) में वर्णित नाना 'चितियों', (वैदिक यज्ञ वेदिकाओं) पर कुछ विशेष संकेत यहाँ आवश्यक है। डा० आचार्य (दे० H A. I. A p 63) ठीक ही लिखते हैं :—"The construction of these altars, which were required for the great soma-sacrifice, seems to have been based on scientific principles and was probably the precursor of the temple which later became the chief feature of Hindu Architecture."

४९. उष्णी
५० पक्तिच्छम्
५१. बृहती
५२ अपात्वे
५३ अपात्वोम्न
५४. अपात्वात्
५५. अपात्वा
५६ अपात्वाय
५७ अर्णवे
५८ समुद्रे
५९ सलिले
६०. अपंत्त
६१. अपाश
६२ अपात्वा
६३. अपात्वा
६४. अपात्वायु
६५ अपात्वायो
६६ गायत्री
६७. अपात्वा
६८. त्रिष्टुप्
६९ जगती
७० अनुष्टप्
७१ पक्तिश्च्छम्
७२. आरवेम्त्रा
७३ आयोष्क्त
७४. आयोष्पत्व
७५ विप्
७६. बृहस्पत्य
७७. अध्मसम्
७८. ऋतसदसि
७९. सत्य-सदसि
८० तेज.सदसि
८१ वय. सदसि
८२ यश.-सदसि
८३ गृणो
८४ धामासि
८५. सनिरसि
८६. रितिरसि
८७ शक्ति
८८ भूतिरसि
८९ कर्मासि
९०. गुदोषि
९१. क्षत्रम्गा
९२ क्षत्रम्पिन्व
९३. क्षत्रजिण्व
९४. क्षत्रंयच्छ
९५. क्षत्रंदह्य
९६ क्षत्रमसि
९७ विश्वेषुत्वा
९८ विश्वेपुरवा
९९. विश्वेषुत्वादि
१०० विश्वेषुत्वा
१०१. विश्वासुत्वा
१०२. विश्वासुत्वा
१०३ विश्वेषुत्वा
१०४. विश्वासुत्वा
१०५ विश्वासुत्वा
१०६ दिविसि
१०७. स्वर्जिग्दसि
१०८ पूतनाजिद्
१०९ भूरिजिद्
११०. अभिजिद्
१११ विश्वजिद्
११२. सर्वजिद्
११३. सत्राजिद्
११४ धनजिद्
११५ भामसि
११६ विश्वपामसि
११७. प्रस्तरामसि
११८ मपत्नह
११९. अभिमति
१२०. अरति
१२१. यातुहनम्
१२२ पिशाचह
१२३ रक्षोहनम्
१२४. शत्रुहनम्
१२५. उद्वदसि
१२६ ऊदितिरसि
१२७ उदत्यसि
१२८. आत्रुममा
१२९. आत्राममस्य
१३०. आकान्तिर
१३१. सक्रममाना
१३२. संक्राामम
१३३ सक्रान्ति
१३४. सर्म्यासि
१३५ स्वरसि
१३६. इषिसी
१३७ उर्जिसी
१३८. भगेसीद
१३९ द्रविणेसीद
१४०. सम्भृतेसीद
१४१. पृथिव्याय
१४२. विष्णोपृष्वे
१४३. इडायापः
१४४. घृतवतिसी
१४५ पिणवमवे
१४६. सम्वत्सरे
१४७ परिवत्सरे
१४८ इदावत्स
१४९ इवुवत्सरे
१५०. इद्वत्सरे
१५१ वत्सरेसी
१५२ एवंस्याम्
१५३. दशासु
१५४ शतेम्सी
१५५. महस्त्र
१५६. ग्रयुते

२

पौराणिकी

हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का आभास देने वाले जिस वाङ्मय का क्रमिक निर्माण सनातन से संकीर्तन किया जाता है उसमें 'श्रुति' (वेद एवं वेदाङ्ग) के अनन्तर 'स्मृति' (मन्वादि-धर्मशास्त्र) का क्रम आता है पुनः पुराणों का। परन्तु स्मार्त एवं पौराणिक संस्थाओं में विशेष अन्तर नहीं है। सत्य तो यह है कि पुराणों ने श्रौताचार (जो एक प्रकार से विशिष्ट या शिष्ट जनों का आचार था) की ही भित्ति पर श्रौत स्मार्त संस्थाओं का नवीन रूप (पौराणिक रूप) प्रदान किया।

पुराणों की महती देन 'सामान्याचार' है जिसमें आर्य एव अनार्य—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) एवं शूद्र तथा पुरुष एवं स्त्री समान रूप से भाग ले सकते थे। इस सामान्याचार में 'देव-भक्ति' एव तदनुरूप 'देव-पूजा' की संस्था सर्व-प्रमुख संस्था थी। त्रिमूर्ति - ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की कल्पना एवं तदाधार वैष्णव एव शैव धर्मादि नाना उपासना-मार्ग एवं तदनुषङ्गिक देव-विशेष की परम प्रभुता एव तत्सम्बन्धी अवतारवाद, उनकी नाना लीलायें आदि की बड़ी बड़ी अनेक शृङ्खलायें निर्मित हुई।

पौराणिक धर्म कितना पुराना है, पुराणों की रचना कितनी पुरानी है, पुराणों का प्रतिपाद्य विषय क्या है, पुराण एवं वेद में कितनी घनिष्ठता है, पुराणों की संख्या एवं पुराणों से सम्बन्धित अन्यान्य अनेक कौन कौन विषय हैं—इत्यादि प्रश्नों की समीक्षा का यहाँ पर अवसर नहीं है। यहाँ प्रकृत प्रासाद वास्तु के विकास में वैदिकी देन के उपरान्त पौराणिकी देन की समीक्षा का अवसर है। अत इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हम उस आधारभौतिक दृष्टि-कोण से विवेचन करेंगे जिससे पुराणों में प्रतिपादित पूर्त-धर्म के प्रचार में देवालय-निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई।

'इष्टापूर्त' की संस्था पर हम बहुत बार निर्देश कर चुके हैं। यहाँ पर थोड़ा विस्तार से कथन आवश्यक है।

'इष्टापूर्त' वैसे तो एक शब्द है परन्तु इसमें दो भाग हैं। इष्ट + पूर्त—प्रथम का अर्थ है यज्ञ सम्पादन (इष्ट = यज्ञ) तथा पूर्त अर्थात् पूरा किया गया भरा गया (what is filled) —'Spiritual result of merit due to man's performances of sacrifices and charitable acts' Kane, H. D Vol. 2. pt 2. p 843

'इष्टापूर्त' की संस्था अत्यन्त प्राचीन इतिहास रखती है। ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का संकीर्तन हुआ है —

(i) सङ्गच्छस्व पितृभिः सं यमेन इष्टापूर्तेन व्योमन।
ऋ० १०.१४.८

(ii) इष्टापूर्तं ... नः पितॄणाममुं ददे हरसा दैव्येन।
अथर्व० २.१२.४

(iii) यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै।
...यदिष्टं यत्परादानं यद्दत्तं या च दक्षिणा।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधत्।
तै० सं० ५.७.७.१-२

(iv) उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च।
वाज० सं० १५.५४ तथा १८.६१

(v) इष्टं पूर्तं गन्धर्वीनां समानां आरण्येन हविषेष्टानन्त लोकं
परमारोह। तै० ब्रा० ?.५ ५

(vi) इत्यददा इत्ययथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्।
इष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्य। इष्टापूर्तेनैवैनं स समर्धयति॥
तै० ब्रा० ३.९.१४

इसी प्रकार कठ एवं मुण्डक आदि उपनिषदों में भी 'इष्टापूर्त' का निर्देश है.—
आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥
कठोप० १.१.८

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति॥
मुण्ड० १.२.१०

महाभारत की इष्टापूर्त पर निम्नलिखित भारती सुनिये —
एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टमित्यभिधीयते॥
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते॥

स्मृतियों में इष्ट एवं पूर्त (इष्टापूर्त) दोनों ही सामान्य संज्ञा पर पुष्ट प्रवचन प्राप्त होते हैं.—
श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥
मनु० ४.२२६-२७

अस्तु, ऊपर एक संकेत किया जा चुका है कि पौराणिक धर्म की सर्वातिशायी विशेषता जन-धर्म (Popular religion) है। इसमें शूद्र भी भाग ले सकते थे। यहीं पर उद्धरणीय है

इष्टापूर्तौ द्विजतीनां धर्मः सामान्य इष्यते।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके॥

इस अवतरण से जहाँ पर पूर्त-धर्म की सामान्य संस्था पर प्रकाश पड़ता है वहाँ इष्ट-धर्म वैदिक है एवं पूर्त धर्म पौराणिक—यह भी परिपुष्ट होता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि पौराणिक पूर्त-धर्म में 'देवतायनों' का निर्माण प्रमुख स्थान रखता था।

पूर्त-धर्म की परम्परा अपेक्षाकृत अर्वाचीन नहीं समझनी चाहिये। जिस प्रकार पुराणों की परम्परा को अपेक्षाकृत नवीन समझना भ्रामक है। पुराण (पुराना इतिहास) भला अर्वाचीन अर्थात् नवीन या आधुनिक कैसे हो सकता है? उसी प्रकार हमें पूर्त-धर्म को नवीन संस्था नहीं समझनी चाहिये। वैदिक-वाङ्मय से उद्धृत ऊपरी अवतरण इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अब प्रश्न यह है कि तथा-कथित पौराणिक पूर्त-धर्म कहाँ तक जाता है? कल्प-सूत्रों के मर्मज्ञ विद्वानों से अविदित नहीं कि उनमें श्रौत-सूत्रों के अतिरिक्त धर्म-सूत्रों एव गृह्य सूत्रों का भी समावेश है। धर्म-सूत्रों एव गृह्य सूत्रों में दानादि महात्म्य के साथ-साथ प्रतिष्ठा (देवतायतन-निर्माण एवं मूर्ति-प्रतिष्ठा — Foundation of Temples) एवं उत्सर्ग (वापीकूपतडागारामादि का परोपकारार्थ निर्माण—dedication of wells, tanks, parks etc for the benefit of the public) की परम्परा पर पूर्ण प्रवचन हैं।

जैमिनि-सूत्रों (१. ३ २) की व्याख्या करते हुये शबरस्वामि का भाष्य इस पुरातन परम्परा को वैदिकी संस्था के रूप में परिकल्पित करता है जहाँ पर प्रतिष्ठोत्सर्ग के स्मृति-नियमों में वैदिक पृष्ठ-भूमि प्रतिष्ठित है। शबर ने ऋग्वेद की 'धन्वन्निव प्रपा'—१० ४ १ तथा 'भोजस्येद पुष्करिणीव'—१० १०७, १० आदि का उल्लेख किया है। विष्णु-धर्म-सूत्र (अ० ९१ १–२) ने कूप एव तडाग निर्माण की जो प्रशंसा की है वह उसमें पाप-प्रक्षालन एवं स्वर्गारोहण दोनों ही लभ्य हैं।

शा० गृ० सू० (५ २) में प्रतिष्ठोत्सर्ग की पद्धति पर सर्वप्राचीन प्रवचन हैं। आश्व० गृ० सू० (४ ६) तथा पा० गृ० सू० परिशिष्ट मे भी एतत्सम्बन्धी विवरण भरे पड़े हैं। पा० परिशिष्ट का निम्न प्रवचन कितना प्रामाणिक है —

'अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनाना प्रतिष्ठापम व्याख्यास्यामस्तत्रोदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुणं यवमयं चरु श्रपयित्वा-ज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति त्व नो अग्ने स त्व नो अग्ने इमं मे वरुण तत्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरु हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमग्नेरनीकमिति दशर्चं हुत्वा स्थाली-पाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्टयै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्त स्विष्ट-कृत्प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वालकृत्य गा तारयित्वा पुरुषसूक्त जपन्नाचार्याय वर दत्वा कर्णवेष्टकौ वासासि धेनुर्दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम्। पार० गृ० परिशिष्ट।'

अस्तु, सूत्र-ग्रन्थों के इसी प्राचीन स्रोत से प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग की महानदी बह निकली जो पुराणों के सागर में मिली। पुराणों में इस पद्धति पर वृहत् विजृम्भण हुआ। अग्नि पुराण (अ० ६४), मत्स्य (अ० ५८) आदि में ये विवरण द्रष्टव्य है। तन्त्रों एव आगमों में भी यही गाथा है। पञ्चरात्र आदि तन्त्र-ग्रन्थ एवं वैखानसादि आगम ग्रन्थ सभी

में यह विकास पराकाष्ठा तक पहुँच गया। कालान्तर पाकर अर्वाचीन समय में प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें अपगार्क, हेमाद्रि, दानक्रिया-कौमुदी, रघुनन्दन का जलाशयोत्सर्ग-तत्व, नीलकण्ठ के प्रतिष्ठा मयूख तथा उत्सर्ग-मयूख आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

वैसे तो प्रतिष्ठा से तात्पर्य धर्मार्थ-समर्पण (dedicating to the public use) है, परन्तु प्राचीन धर्म-शास्त्रों के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिये—प्रतिष्ठापनं सविधोत्सर्जनमित्यर्थः—दानक्रिया-कौमुदी।

प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अंग क्रमशः हैं—सङ्कल्प, होम, दान तथा दक्षिणा एवं भोजन। उत्सर्ग एवं दान में थोड़ा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु दान व्यक्तिगत है। अतः उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्वभूतों के लिये होता है अत. उत्स्रष्टा (दाता) भी तो उन भूतों में एक है अतः वह भी समानरूप से उसके भोग का अधिकारी है। देवतायतन, वापी, कूप, तडागादि को उत्सर्ग कर देने पर भी उत्स्रष्टा (दाता) इनके भोग का अधिकारी है।

प्रतिष्ठोत्सर्ग की श्रौत स्मार्त (पौराणिक भी) संस्था पर महाकवि बाणभट्ट का निम्न निर्देश कितना सुसंगत है जहाँ पर स्मार्त-धर्म प्रतिष्ठोत्सर्ग पर अवलम्बमान दृष्टिगोचर होता है (देखिये कादम्बरी, उज्जयिनी-वर्णन)—'स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथकूपप्रपाराम-सुरसदनसेतुयन्त्रप्रवर्तकेन'।

कालिका-पुराण में तो पूर्त धर्म (प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग) को इष्ट-धर्म से भी ऊँचा माना गया है:

इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसंमतौ
प्रतिष्ठाद्यं तयोः पूर्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम्
भुक्ति-मुक्ति प्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्।

अर्थात् इष्ट एवं पूर्त दोनों ही शिष्टसम्मत धर्म हैं। 'पूर्त' से वापी, कूप, तडाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एवं इष्ट से यज्ञ-कर्म। इनमें इष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु 'पूर्त' तो भुक्ति एवं मुक्ति दोनों का ही साधन है। अत इसी सद्-भावना से पूर्त-धर्म के परिपाक में देवतायतन-निर्माण एक वृहद्‌निवेश है जिसमें प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नहीं है वरन् उससे सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरां सन्निविष्ट हुये—जैसे आराम (पुष्प एवं फलवृक्षों का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अंग)—वापीकूपतडागादि।

सूत्र-कारों ने यद्यपि प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में केवल कूपादि जलाशयों का ही प्रतिपादन किया है परन्तु जलाशयोत्सर्ग में पादपारोपण का प्रमुख प्रविवेचन है। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एवं वृक्ष माहात्म्य एक अभिन्न अंग है। नामादि में वृक्षों के बहुल प्रयोग (कुश, समिधा, दर्भ पत्र—स्रुवा, जुहू) से हम परिचित ही हैं। वृक्षों की वन्दना प्रायः सभी संस्कारों एवं समारोहों की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-दल, वृक्ष-पुष्प एवं वृक्ष फल के बिना क्या कोई कर्म भी धर्म-शास्त्र सम्पन्न हुआ है? (दे० हेमाद्रि—

व्रतखण्ड—अश्वत्थोदम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः पंचाङ्गाः इति प्रोक्ताः सर्वकर्मसु शोभनाः—जिस स्थान पर कूपादि जलाशयों की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उत्सर्ग होता वहाँ वृक्षारोपण (विशेषकर बडे-बडे वनस्पतियों—न्यग्रोध—पिप्पल आदि) अनिवार्य समझा जाता था। इस उष्ण-प्रधान देश में कोई भी जन-स्थान (public-place) बिना वृक्षों की छाया कैसे रह सकता था? अथच वृक्ष-पूजा का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा। महाभाष्यकार पतञ्जलि के उस सुदूर समय में भी 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता.' का विश्वास प्रतिष्ठित था। महाभारत में वृक्षारोपण बड़ा प्रशस्त माना गया है विशेषकर तडाग के तट पर:—

वृक्षद पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः

(अनु० प० ५८ ३०–३१)

विष्णु-धर्म-सूत्र (६१. ४) का भी यही समर्थन है:

'वृक्षारोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति ।'

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुराणों की पुण्य-भूमि पर और भी निखर उठा (दे० पद्म-पुराण), जहाँ वृक्षारोपण, देवालय-निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एवं यागादि कर्म-काण्ड इष्ट-धर्म के समान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है।

अस्तु, वृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहाँ पर संकेत करने का अभिप्राय पाठकों का उस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का है जहाँ पर देवतायन—मन्दिर-निवेश की पद्धति में वृक्ष एक अभिन्न अंग थे। मत्स्यपुराण (दे० अ० २७० २८–२९) में स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्वदिशा में फल-वृक्ष, पश्चिम में कमलाकर तथा उत्तर मे पुष्प वृक्षों के साथ-साथ सालादि-तालादि वृक्ष भी आरोपित हों। प्राचीन धर्म शास्त्रों मे वृक्षों की रक्षा पर बडे कठोर शासन का अनुशासन है (दे० विष्णु धर्म सूत्र ५ ५५ ५६)। अत. स्पष्ट है किसी भी प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग मे वृक्षारोपण एव वृक्षों की रक्षा अनिवार्य अंग हैं।

इस अत्यन्त संक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सके कि पूर्त-धर्म के प्रधान अङ्गों में केवल जलाशय (वापी, कूप, तड़ाग) एव आराम की प्रतिष्ठा एव उनके उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थों में सामग्री है। जहाँ तक मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर मे प्रतिमा प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिकी व्यवस्था (सूत्र-ग्रन्थ जिसके अभिन्न अंग हैं) नहीं। वह तो स्मार्त एवं पौराणिक संस्था है, परन्तु देवालय-प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है—मत्स्यपुराण का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक है.—

एवमेव पुराणेषु तडागविधिरुच्यते,
कूपवापीसु सर्वासु तथा पुष्करिणीषु च।
एष एव विधिर्दिष्ट. प्रतिष्ठासु तथैव च,
मन्त्रतस्तु विशेष. स्यात् प्रासादोद्यानभूमिषु ॥

म. पु. ५८ ५०-५२

अर्थात् जो विधि तड़ागादि जलाशयों की प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में प्रचलित है वही उद्यानादि पर एवं प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझनी चाहिये—विशेष यह कि मन्त्रों के प्रयोग में थोड़ी सी हेर फेर अवश्य रहे।

पौराणिक प्रासाद-प्रतिष्ठा (Foundation of temples) तथा देवता-प्रतिष्ठा (Consecration of an image in the temple) पर विस्तृत विवरण प्रायः सर्वत्र प्राप्त होते हैं। देवता प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेष-रूप से लिखेंगे। मठ-प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है। सत्य तो यह है कि मठ एवं मन्दिर एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। आदि शंकराचार्य के जगत्प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं—बदरिकाश्रम में मठ भी है और मन्दिर भी। इसी प्रकार पुरी में जगन्नाथ जी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एवं मठ दोनों से हम परिचित ही हैं। द्वारकापुरी, रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है। अस्तु, यहाँ पर इस दिशा में विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद-निर्माण के प्रयोजन पर थोड़ा सा और संकेत आवश्यक है।

वाराही 'बृहत्संहिता' यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है परन्तु वास्तव में उसे अर्ध-पुराण समझना चाहिये। बृहत्संहिता का प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर निम्न प्रवचन पठनीय है—

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान्विनिवेश्य च।
देवातयम कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये॥
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते॥
अ० ५६. १–२

अर्थात् जिस भूमि पर प्रभूत जलराशि के साधन सम्पन्न हैं और जहाँ पर पुष्पवृक्षों एव फलवृक्षों के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं एवं सुनिविष्ट हैं वहाँ पर यश एवं धर्म की वृद्धि करने वाले यजमान (प्रासाद-प्रतिष्ठापक) को देवतायन का निर्माण कराना चाहिये। इष्टापूर्त से जिन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं उन स्वर्गादि-लोकों की प्राप्ति का अभिलाषी यजमान देवालय-निर्माण करावे। क्योंकि देवालय-निर्माण से इष्ट (यज्ञादिजन्य स्वर्ग-प्राप्ति) एव पूर्त (धर्मार्थ-साधन) दोनों ही एकत्र प्राप्त होते हैं।

इस प्रवचन से प्रासादों के उदय के अन्तर्तम में पौराणिक पूर्त धर्म के मर्म को पाठक भलीभाँति हृदयङ्गम कर सके होंगे। 'स्वर्गकामो यजेत्' वैदिकी परम्परा के स्थान पर 'स्वर्गकामो मन्दिरं कारयेत्', सर्वथा सिद्ध हो गया। प्रासाद-कारक (मन्दिर का निर्माण कराने वाला धर्मार्थी व्यक्ति) यजमान के नाम से ही पुकारा गया है। 'स्थपति एवं स्थापक' के वास्तु-शास्त्रीय सम्बन्ध में प्रासाद-कर्ता स्थपति प्रासाद-कारक यजमान का प्रतिनिधित्व करता है। अतः वह सब फल, जो प्रासाद-निर्माण से प्राप्त होते हैं, वे उसे (यजमान को) मिल जाते हैं। 'बृहत्संहिता के' के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार उत्पल ने काश्यप के प्रामाण्य (authority) पर प्रासाद-कारक यजमान का स्वर्ग-निवास नित्य माना है और वह नित्य स्वर्ग. मन्दिर की दृढ़ता से पुष्ट होता है—जो मन्दिर जितना ही पक्का एवं चिरस्थायी है वह उतना ही अपने निर्माता यजमान के स्वर्ग का विधायक भी। '[illegible]' अध्याय २४, २५ इसी प्राचीन मर्म के उद्घाटन में निर्देश करता है कि प्रासादादि के

विनिर्मित छन्न-प्रासाद (thatched temples) की अपेक्षा इष्टिकाओं से विनिर्मित प्रासाद (brick temples) शतगुण पुण्य प्रदान करते हैं परन्तु पाषाण से बनवाये गये प्रासाद (stone temples) तो इष्टिका-प्रासाद से सहस्रगुण फलदायक होते हैं।

प्रासाद कार्य यज्ञ-कार्य के समान ही धार्मिक कार्य है—यह हम कई बार कह चुके हैं, सत्य तो यह है कि हिन्दू-दृष्टि से कोई भी वास्तु-कार्य यज्ञ कार्य के समान पुनीत एवं स्वर्गकारक है। प्राचीन काल मे लोगों का विश्वास था कि मन्दिर-निर्माण से पुण्य-लाभ होता है—दे० मिहिरगुल का ग्वालियर पाषाण-शिला लेख। अग्निपुराण (दे० अ० ३८ १०–११ तथा २५–२६) का भी यही पोषण है।

'शैवागम-निबन्धन' भी इसी तथ्य का समर्थन करता है:—

ये वै शिवालयं भक्त्या शुभ कारयतीप्सितम्।
त्रिसप्तपुरुषाल्लोक शम्भोर्नयति स ध्रुवम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महादेवस्य मन्दिरम्।
सर्वैरवश्य कर्तव्यं आत्माभ्युदयकांक्षिभि.॥

'यमसंहिता' का भी ऐसा ही साहित्य है:—

कृत्वा देवालय सर्वं प्रतिष्ठाप्य च देवताम्।
विधाय विधिवच्चित्रं तल्लोक विन्दते ध्रुवम्॥

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दे० १३. २४०–४४) में 'प्रासाद-स्तवन' बड़ा ही मार्मिक है।

अस्तु, प्राचीन इस महाविश्वास का जन-समाज मे इतना प्रचार था कि वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रासाद-वास्तु के विवेचानावसर ये ग्रन्थ पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों के सदृश देवतायतन-निर्माण-जन्म-पुण्य पर प्रबल एवं प्रचुर सकेत करते हैं। इसी दृष्टि स समराङ्गण-सूत्रधार का प्रासाद-स्तवन बड़ा ही प्रशस्त है जो 'प्रासाद' वार (temple-wise) किया गया है। अतः समराङ्गणीय 'प्रासाद-स्तवन' का यहीं पर समुल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। वास्तव में 'ईष्टापूर्त' की परम्परा में प्रतिष्ठापित प्रासादों का यह माहात्म्य अन्यत्र दुर्लभ है—पुराण भी फीके दिखाई पड़ेंगे—ग्रन्थकार की ओजस्वी वाणी का निम्न उद्घोष सुनने लायक है.

प्रासादराज' मेरु. अ० ५५ १४-१५	एवमेष चतु शृङ्गश्चतुर्द्वारोपशोभित.। मेरुर्मेरूपम. कार्यो वाञ्छता शुभमात्मनः॥ सर्वस्वर्णमय मेरु यद् दत्त्वा पुण्यमाप्नुयात्। तमिष्टकाशैलमय कृत्वा तदधिक भजेत्॥
सर्वतोभद्र' ५५. ३०६; ५६ १४०	जय लक्ष्मीं यशः कीर्तिं सर्वाणीष्टफलानि च। करोति सर्वतोभद्र सर्वतोभद्रक: कृत.॥ विधाय सर्वतोभद्र देवानामालय शुभम्। लभते परम लोक दिवि स्वच्छन्द-भाषितम्॥

रुचकादिचतुष्षष्टि-प्रासादाः पुराणा भूपणार्थाय भुक्तिमुक्तिप्रदा. नृणाम्।
अ० ५६-८

मेर्वादिविंशिकायाम्

श्रीधरः	श्रीधरं कारयेद् यस्तु कीर्त्यर्थमपि मानवः ।
अ० ५७.४८.४९	इहैव लभते सौख्यमसुरेन्द्रत्वमाप्नुयात् ॥
	भोगान् भुक्त्वा पुमान् स्वर्गं नीयते च परे पदे ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तः शान्तश्च स्यान्न संशयः ॥
सुभद्रः	प्रासादं ये सुभद्राख्यं कारयन्ति सुलक्षणम् ।
५७.१११½	कल्पकोटिसहस्राणि भद्रं तेषां शिवाग्रतः ॥
सुरसुन्दर	कुर्याद् य एवं प्रासादमीदृशं सुरसुन्दरम् ।
५७ पृ० ५७ वा	स वैरिञ्चं युगशतं सूर्यलोके महीयते ॥
नन्द्यावर्तः	भक्त्या ये कारयन्त्येन नन्द्यावर्तमनुत्तमम् ।
५७ पृ० ५९ वां	विमानं शुभमारुह्य शक्रलोकं व्रजन्ति ते ॥
सिद्धार्थः	यः कुर्यात् कारयेद् यस्तु सिद्धार्थं सर्वकामदम् ।
५७ पृ० ६१	स भवेत् सर्वकामाप्तिः शिवलोके च शाश्वतः ॥
शत्रुवर्धनः	यः शत्रुवर्धनं कुर्यात् स भुनक्ति चिरं महीम् ।
५७ पृ० ६२	वशगा चास्य सततं भवेत्सुधर्मी कृताञ्जलिः ॥
त्रैलोक्य-भूषणः	त्रैलोक्य-भूषणं प्रभो वन्दितं त्रिदशैरपि ।
५७ पृ० ६३, ६४	आश्रयं सर्वदेवानां पापस्य च विनाशकम् ॥
	त्रैलोक्य-भूषणं कृत्वा त्रिदशानन्दकारकम् ।
	कल्पान्तं यावदध्यास्ते पुरुषस्त्रिदशालयम् ॥
पद्मः	पद्मालय. कारितो येन प्रासादो रतिवल्लभः ।
५७ पृ० ६४	आत्मा समुद्धृतस्तेन पापपङ्कमहोदधेः ॥
पद्मबाहुः	पद्मबाहु कृतो येन त्रिगर्भ. कर्मभूषितः ।
५७ पृ० ६५	स त्रिनेत्र-प्रवाप. स्यात् तुरङ्गमातनायकः ॥
लक्ष्मीधरः	अथ लक्ष्मीधरं प्रभो य कृत्वा विजयं नरः ।
५७ पृ० ६८ ६९	राज्यमायुष्यपूजां च गुणानाप्नोति चेश्वरान् ॥
	लक्ष्मीधराख्यं प्रासादं यः कुर्याद् वसुधातले ।
	अक्षये स पदे तात्रे लीयते नात्र संशयः ॥
रतिदेहः	रतिदेहमथ प्रभो प्रासादं सुमनोरमम् ।
५७ पृ० ६९-७०	अप्सरोगण-संकीर्णं कामदेवस्य मन्दिरम् ॥
	एवं विधं यः कुरुते प्रासादं रतिवल्लभम् ।
	सन्तोषपत्ति कन्दर्पं स्याज्जनेषु स पुण्यभाक् ॥
सिद्धिकामः	सिद्धिकाममथ प्रभो प्रवर्यैरुपशोभितम् ।
५७ पृ० ७०-७१	धन-पुत्र-कलत्राणि कृते तदाप्नुयान्नरः ॥
नन्दिघोषः	नन्दिघोषमथ प्रभो विश्वप्रयत.जनम् ।
५७ पृ० ७२	य एनं भक्तितः कुर्यात् स भवेद्ज्ञानिनः ॥
सुखानन्दः	यः करोति सुखानन्दं प्रासादस्मय नागर ।
५७ पृ० ७२	सुखास्तस्य धनित्यार्थमवाप्नुयुः करोति च ॥

हर्षणः	हर्षणः क्रियते यत्र स देशः सुखमेधते ।
५७ पृ० ७७	क्षेमं गोब्राह्मणानां स्यात् पूर्णकामश्च पार्थिव. ॥
दुर्जयः	दुर्जयः क्रियते यत्र पुरे नगरेऽथवा ।
५७ पृ० ७६	न भवेत् तत्र दुर्भिक्ष न च व्याधिकृत भयम् ॥
त्रिकूटः	य॒मस्त्रिकूट महाद्यैः सेवित त्रिदशैस्त्रिभिः ।
५७ पृ० ७६	फल क्रतुसहस्रस्य येन मोक्ष च विन्दति ॥
वृद्धिरामः	प्रासादस्यास्य कर्ता च यावच्चन्द्रार्कतारकम् ।
५७ पृ० ८६	तावदिन्द्र इव स्वर्गे क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥
कैलासः	भुक्त्वा भोगांश्च कैलासे कल्पान्ते यावदीप्सितम् ।
५७-६३	शार्वं पदमवाप्नोति शान्त ध्रुवमनामयम् ॥
त्रिविष्टपः	कृत्वा त्रिविष्टप दिव्य प्रासाद पुरभूषणम् ।
५७ पृ० ६५	वसेत् त्रिविष्टपे तावद् यावदाभूतसप्लवम् ॥
	तस्यान्ते तु परे तत्वे लयमाप्नोति मानवः ।
क्षितिभूषणः	गुणवान् नृपतिर्यद्वद् भूषयत्यखिलां महीम् ।
५७ पृ० ६६	क्षितिं विभूषयत्येवं प्रासादः क्षितिभूषणः ॥
	द्रव्येषु रेणुसंख्या या सुधायामपि यावती ।
	तावद्युगसहस्राणि कर्ता शिवपदे वसेत् ॥
विमानः	अश्वमेधप्रधानैर्यदिष्टैः क्रतुशतैर्भवेत् ।
५७ पृ० १०२	तदेकेन विमानेन फलमाप्नोति मानवः ॥
मुक्तकोणः	निर्मापयन् नरः कश्चिन्मुक्तकोणं महायशा ।
५७ पृ० १०६	सप्राप्नोति महासौख्य विमुक्त सर्वपातकैः ॥
	सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त सर्वकिल्विषवर्जितः ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तो भोगं मोक्ष च विन्दति ॥
	दिग्भद्रादिप्रासादेषु
दिग्भद्र.	इम दिग्भद्रसज्ञ यः प्रासाद कारयेत् पुमान् ।
६४ १४.	शतक्रतुफल सोऽपि लभते नात्र सशय. ॥
महाभद्रः	महाभद्रमिम योऽत्र कारयेद् भक्तिमान् नरः ।
६४. ७८	स स्वर्गे सुरनारीभिः सेव्यते मदनाज्ञया ॥
	भूमिजप्रासादेषु
मलयाद्रि	मलयाद्रिरय प्रोक्तः प्रासादः शुभलक्षणः ।
६५. ३६	य एम कारयेत् तस्य तुष्यन्ति सकलाः सुराः ॥
	वर्षकोटिसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।
सर्वाङ्ग-सुन्दर	सर्वाङ्गसुन्दर य॒म. प्रासादमथ सुन्दरम् ।
६५-१११	भुक्तिमुक्तिप्रदातार मण्डनम् ॥

टि०—इसी प्रकार का 'प्रासाद-स्तवन' समराङ्गण के प्रासाद-वास्तु में भरा पड़ा है। यह उपलक्षण-मात्र है। ये ही पद्य चुने गये हैं जो 'इष्टापूर्त' की ओर सकेत करते हैं।

३

लोक-धर्मिणी

हिन्दू प्रासाद की जिन विभिन्न पृष्ठ-भूमियों को लेखक ने अपने उन्मेष में उद्भावित किया है उनमें लोक-धर्मिणी का एक बड़ा ही महत्व-पूर्ण स्थान है। 'लोक धर्मिणी' इस शब्द चयन से भारतवर्ष के इस विशाल भू भाग के नाना जनपदों एवं प्रान्तों तथा उनके अनेक-वर्गीय एवं विभिन्न भाषा भाषी मानवों की मौलिक आस्था —भगवद्दर्शन, पुण्य स्थानावलोकन, तपःपूत-पावनाश्रम-विहरण एवं प्राकृतिक-सुषमा-शोभित अरण्य, कानन, खण्ड, ग्राम आवर्त आदि का सेवन तथा पुण्यतोया सरिताओं के कूलावास—एक शब्द में 'तीर्थ यात्रा' से तात्पर्य है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक समुत्थान में, उसकी मौलिक एकता के संरक्षण में तथा मानवता को उच्च स्तर पर लाने के सफल प्रयास में तीर्थ-यात्रा ने महान योगदान दिया है। मन्दिरों की स्थापना में तीर्थों का एकमात्र हाथ है।

इतिहास (महाभारत) एवं पुराण में प्रतिपादित तीर्थ-यात्रा-माहात्म्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि वह लोक-धर्म बन गया। इसी लोक-धर्म ने प्रासाद-निर्माण की वह उर्वरा भूमि तैयार की जिस पर एक नहीं अनेक नहीं शतशः नहीं सहस्रशः भी नहीं अगणित प्रासादों की रचना सम्पन्न हुई। भारतवर्ष के राष्ट्रीय-गीत में इसे देव-भूमि के नाम से पुकारा गया—देव भी इस देश में निवास के वैसे ही अभिलाषी हैं, वे भी इसके प्रति उतनी ही ममता एवं प्रेम रखते हैं जितनी किसी भी भारत देश-निवासी की हो सकती है। महाभारत एवं अष्टादश पुराणों की सबसे बड़ी सांस्कृतिक देन यही लोक-धर्म है; अतएव हमने इसे मं के मूल्याङ्कन में हिन्दू-प्रासाद की इसे भी उतनी ही महत्वपूर्ण पृष्ठ भूमि मानी है जितनी न्य पूर्व-प्रतिपादित पृष्ठ-भूमियों को।

विष्णु-संहिता में प्रासाद पूजा-गृह ही नहीं पूज्य भी है एवं ऐहिक तथा पारलौकिक नों ऐश्वर्यों का दाता भी। यही कारण है कि मन्दिर-निर्माण की परम्परा के उदय में भक्ति' ने बड़ा योग दिया। वैदिक यज्ञ कर्म-प्रधान रहता थी, पौराणिक प्रासाद भक्ति-प्रधान परम्परा बनी।

हिन्दू प्रासाद को इसी दृष्टि की दिव्य ज्योति से देखने वाली विश्वविदित महिला श्री कुमारी डा० क्रामरिश का निम्न कथन पठनीय है —

"To the pilgrim and devotee who goes to the temple, it is a Tirtha made by art, as others are by nature, and often it is both in one. A Hindu temple unlike the Vedic altar does not fulfil its purpose by being built, it has of necessity to be seen. Darśana, the looking at the temple, the seat abode and body of divinity and its worship (pūjā), are the purpose of

visiting the temple To fulfil this purpose in addition to being an offering and work of pious liberality, the temple has not only its proportionate measurement but also the carvings on its walls, and the total fact of its form"

इस उद्धरण ने प्रासाद-निर्माण प्रयोजन पर पूर्व-प्रतिपादित पूर्त-धर्म में पूर्व-संकेतित तीर्थ-यात्रा की परम्परा पर जो संकेत किया है उस पर वक्तव्य के लिये ही इस अध्याय की अवतारणा है।

भौतिक जगत से भी परे कोई आध्यात्मिक लोक है जिसके आलोक से आलोकित हो कर मानव पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। विज्ञान भौतिक जगत (phenomenal world) तक ही सीमित है परन्तु विज्ञानों का विज्ञान तत्व-विद्या (metaphysics) अर्थात् दर्शन इसी भौतिक जगत के परे पारलौकिक जगत (noumenon) की अन्वीक्षा प्रदान करता है अतएव इसे 'आन्वीक्षिकी' के नाम से पुकारा गया है।

भारतीय तत्व-विद्या का मूलमंत्र ज्ञानाधिगम है। बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव नहीं—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। परन्तु यह ज्ञान मार्ग बड़ा दु:साध्य है—सर्वसुकर नहीं। सभी तो ज्ञानी नहीं अतः अज्ञानियों को भी परमपद की प्राप्ति का कोई साधना-पथ होना ही चाहिये। अग्निपुराण (दे० १०६) तीर्थ-यात्रा का रास्ता बताता है जिस पर चलने से न केवल मुक्ति ही प्राप्य है वरन् भुक्ति भी। श्रुति एवं स्मृति, पुराण तथा आगम में प्रतिपादित नाना मार्ग इसी परम तत्व तक पहुँचने के उपाय हैं। भू लोक का वासी मानव दिव्य स्वर्ग को पहुँचने के लिये सोपानों का अभिलाषी है। मन्दिर की नाना भूमिकायें एवं सर्वोपर प्रतिष्ठित 'आमलक' साधन एव साध्य की रूपक-रचना है। इसी प्रकार भवसिन्धु से पार उतरने का अनन्यतम उपाय तीर्थ सेतु है।

'तीर्थ' का शब्दार्थ तो जलावतार है। जल को जीवन भी कहा गया है। इस प्रकार तात्त्विक तीर्थ तो मनुष्य की अपनी निजी आत्मा ही है जिसको पारकर (अर्थात् पहिचान कर) परम तत्व में (साध्य) में लीन होने का साधन है। तीर्थ का यह आध्यात्मिक मर्म है। तीर्थ का भौतिक महत्व भी इसी परम तत्व —मोक्ष का उपाय है। तीर्थ यात्रा साधन है—साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों के साथ साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियों के लिये तो आत्मा ही परम तीर्थ है (दे० महाभा० अनु० १७० २-३, १२-१३), परन्तु अनात्मज्ञ विशाल मानव-समूह को भव सागर पार उतरने का परम साधन तीर्थ सेतु है।

तीर्थ और जलाशय का अभिन्न सम्बन्ध है। इनको क्षेत्र, धाम, खण्ड, अरण्य आदि नाना संज्ञाओं से पुकारा गया है। भारतवर्ष के धार्मिक भूगोल में ऐसे स्थानों की संख्य सख्याती। है.

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च तीर्थानां वायुरब्रवीत।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता॥

म० पु० ११०.७

गो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्त निबोध बुधांवर॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते॥

महाभा० वन० ८२.१३–१७

अपि च

पापानां पापशमनं धर्मवृद्धिस्तथा सताम्॥
विज्ञेयं सेवितं तीर्थं तस्मात्तीर्थपरो भवेत्॥
सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम्।
तीर्थं फलप्रदं ज्ञेयं नात्र कार्या विचारणा॥

विष्णु-धर्मोत्तर तृ० २७३. ७ तथा ६

यहाँ पर तीर्थ-यात्रा को लोक-धर्म में लेने का एक मर्म यह है कि तीर्थ-यात्रा में भी निष्ठा की आवश्यकता है। तीर्थ-यात्रा आजकल का भ्रमण (touring) नहीं है। महाभारत का स्पष्ट उद्घोष है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
प्रतिग्रहादुपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित्।
अहङ्कारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते।
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः॥
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥

महाभा० वन० २२६–१२

जो नैष्ठिक नहीं वे तीर्थ-फल के भागी नहीं बनते। अतः तीर्थ-यात्रा यद्यपि एक साधना है तथापि इस दृष्टि से साध्य भी है जो नैतिक स्तर के ऊँचा किये बिना निष्फल है। भाव नैर्मल्य अनिवार्य है। स्कन्द-पुराण स्पष्ट कहता है (दे० काशी० ६.२८.४५)—

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थ-सेवा श्रुतं यथा।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥

निर्मल मन ही परम तीर्थ है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटो दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

वामन पु० ४३.२५

पद्मपुराण तो इस अर्थ को और आगे बढ़ा देता है (उ० द्वि० ३६ ५६–६१)।

तीर्थों की कल्पना का उदय हुई? तीर्थों का जलाशय मात्र अर्थ है अथवा इसके व्यापक क्षेत्र (wide scope) में अन्य स्थान भी गतार्थ हैं, कौन कौन से स्थान विशेष प्रशस्त

है, पुराणों की तीर्थ-सूची कितनी लम्बी है, तीर्थों एवं देवालयों की ऐतिहासिक परम्परा का कहाँ तक अक्षुण्ण रक्षण हुआ—आदि नाना प्रश्न हैं जिनपर इस उपोद्घात में सविस्तर वर्णन असंभव है अथच अप्रासङ्गिक भी। तथापि हिन्दू-प्रासाद के उदय में लेखक की दृष्टि में सर्वतोवरिष्ठ पृष्ठ-भूमि तीर्थ हैं।

'तीर्थ' शब्द ऋग्वेदादि संहिताओं में भी प्राप्त होता है। अतः इस शब्द की शाब्दिक प्राचीनता ही सिद्ध नहीं होती वरन् तीर्थ की पावनता भी प्रकट है। ऋग्वेद के प्रथम म० १६६.६ तथा १७३.११ एवं चतुर्थ म० २६.३ में तो तीर्थ-शब्द का अर्थ पथ या मार्ग प्रतीत होता है, परन्तु सप्तम म० ४७.११—सुतीर्थ अर्वतो यथानु नो नेपथा सुगम्—आदि तथा प्रथम म० १४६.८—अरित्र वा दिवस्पृथू तीर्थे सिन्धूना रथः—में तीर्थ शब्द का 'जलावतार' अर्थ (जो आगे कोषकारों ने माना है—'तीर्थं योनौ जलावतारे च'—इति हलायुधः) निश्चित है। और आगे बढ़िये तो ऋग्वेद में ही तीर्थ शब्द से एक पुण्य-स्थान का बोध होता है - तीर्थे न दस्मम् उप यन्त्यूमाः—ऋ० दशम् म० ३१ ३। ऋग्वेद के सप्तम म० की १६ ३७ वीं ऋचा - सुवास्त्वा अधि तुग्वनि—पर निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'सुवास्त्व' नामक नदी का अर्थ ग्रहण किया है और 'तुग्वन' का अर्थ तीर्थ।

इसी प्रकार वैदिक-वाङ्मय के अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी तीर्थ-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। निम्न अवतरणों का पारायण रोचक होगाः—

(i) 'अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी तीर्थे स्नाति'—
तै० स० षष्ठ १. १. १–२

(ii) 'ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः'—
तै० सं० चतुर्थ ५.११.१–२

(iii) 'समुद्रो वा एष सर्वहरो यदहोरात्रे तस्य हैते अगाधे तीर्थे यत्सन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमदीयात्तादृक् तत्
श० ब्रा० द्वितीय, ६

(iv) 'ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्क्रामन्ति तद्धि यज्ञस्य तीर्थमाम्नातं नाम—
श० ब्रा० १८. ६

(v) 'तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीः' अथर्व० अष्टादश० ४. ७

(vi) 'यथा क्षेमं तीर्थे तर्पयन्ति' तै० ब्रा० द्वि० १. ८. ३

(vii) 'एतद्धै देवाना तीर्थम्' षड्वि० ब्रा० ३.१

टि० १—इसी प्रकार पञ्चविंश ब्रा० (६४) एवं शा० श्रौ० सू० (५ १४.२) आदि प्राचीन वैदिक ग्रंथो में भी 'तीर्थ' के संकेत हैं।

ऊपर एक आकूत है 'तीर्थ' शब्द के अभिधेयार्थ में एकमात्र जलाशय (सरिता आदि) से ही तात्पर्य है अथवा अन्य पावन स्थानों का भी? इस जिज्ञासा में हमें पुनः प्राचीन साहित्य की शरण में जाना होगा। ऋग्वेद में ही जल, सरितायें, पर्वत एवं अरण्य

भी देवतात्मा के रूप में परिकल्पित किये गये हैं, अतः ये सभी 'तीर्थ' हैं—ऐसा आकृत असङ्गत न होगा। ऋग्वेद के सप्तम म० ४६ वीं ऋचा में दिव्य जलों से रक्षा की अभ्यर्थना—ता आपो देवीर्-इह मामवन्तु—से हम परिचित ही हैं। वहीं पर जल को 'पुनानः' कहा गया है। सप्त० म० की ४७ वीं तथा दशम की ६ वीं तथा ३० वीं ऋचाओं में तो जल में देवतात्मा का आरोपण कर सम्बोधन है। तै० स० (द्वि० ६.८ ३) का तो उद्घोष है—

'आपो वै सर्वा देवताः'

अथर्ववेद का जल-विज्ञान, कितना सत्य है, वह निम्न ऋचा मे द्रष्टव्य है—

हिरण्यवर्णा शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्नि ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ३३-१

इस प्रकार हमने देखा वेद में जल कितना पवित्र है तो जल-वाहिनी नदिया और भी अधिक सुतरा पावन होंगी ही। ऋग्वेद की निम्न ऋचा के अवलोकन से लगभग २० नदियों की सूची प्राप्त होती है और उनका यत्र तत्र यथास्थान सुन्दर सकीर्तन भी प्राप्त होता है।

इम मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोम सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥
तुष्टामया प्रथम यातवे सजू. सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ।
त्व सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमु मेहत्न्वा सरथ याभिरीयसे ॥

ऋ० दश० ७५-५-६

इनमें तीन प्रधान नदिया थीं—सरस्वती, सरयू तथा सिन्धु। ऋग्वेद में इन नदियों का बड़ा सुन्दर गुणगान है। इन्हे देवी और माता के नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद मे सरस्वती को—अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वति—कहा गया है। सिन्धु और गङ्गा के समान यह महानदी सरस्वती यदि आज भी होती तो कितना अच्छा होता—सरस्वती का तट बड़ा पावन था। बडे-बडे सत्र इसके पावन तट पर सम्पन्न हुए—ऐसा ऐ० ब्रा० ८ १ का प्रमाण है—ऋषयो वै सरस्वत्या सत्रमासत। देवल ने तो अपने प्रवचन में निम्नलिखित कतिपय सारस्वत-तीर्थ माने हैं—

प्लक्षप्रस्रवण वृद्धकन्याक सारस्वतमादित्यती कौवेर,
वैजयन्तं पृथूद नैमिश विनशनं वंशोद्भेद प्रभासमिति सारस्वतानि ।

इस महानदी के विलोप का कोई प्राकृतिक कारण अवश्य होगा—यह तो भूगर्भ-विद्या-विशारद ही बता सकते हैं।

अस्तु, जल एवं जलवाहिनी नदिया की पावनता पर सकेत करने के उपरान्त अब पर्वतो की प्रान्तर उपत्यकाओं को देखें।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा में पर्वतो की उपत्यकायो एव सरिताओं के सङ्गम पवित्र प्रतीत होते हैं

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥ सप्तम म० ६. २८

ऋग्वेद में पर्वत का संकीर्तन इन्द्र के साथ किया गया है और सायण ने 'पर्वत' की मेघ के अर्थ मे व्याख्या की है, परन्तु षष्ठ म० ४६. १४वी ऋचा में 'पर्वत' अहिर्बुध्य एवं सविता के साथ-साथ स्वाधीन रुप मे सम्बोधित है—उसका भी अर्थ सायण 'मेघ' ही करते हैं, परन्तु तृतीय म० ३३ १ में तत्कालीन दो महानदिया विपाश (आधुनिक व्यास) तथा शुतुद्री (आधुनिक सतलज) पर्वतों की गोद से निकलती हुई वर्णित की गयी हैं। यहाँ पर पर्वत का अर्थ पर्वत (पहाड़) ही है।

अथर्ववेद हिमालय की जड़ी बूटियों से परिचित था—

यदाञ्जन त्रैककुद जात हिमवतस्परि ।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ अथ० ४ ६ ६

सूत्र-ग्रन्थों (दे० हिरण्याक्ष, गौतम, बौद्धायन आदि) मे पावन प्रदेशों की गणना मे सभी पर्वत, सभी सरितायें, सभी पुण्यतोया पुष्करिणियां, ऋषि-आश्रम, देवतायतन आदि सभी पवित्र एव तीर्थ माने गये हैं। पुराणों में तो नदियों एवं पर्वतों तथा सागरों की पावनता पर प्रचुर प्रवचन हैं। निम्न प्रवचन पारायण के योग्य हैं :

सर्वं पुण्य हिमवतो गङ्गा पुण्या च सर्वत ।
समुद्रगा. समुद्राश्च सर्वे पुण्या. समन्ततः ॥ वायु० ७७. ११७

'राजा समस्त - तीर्थाना सागर. सरिता पतिः'
नारदीय (उत्तर) ५८. १६

सर्वे प्रस्रवणाः पुण्या. सर्वे पुण्या शिलोच्चयाः ।
नद्यः पुण्याः सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः ॥ शङ्ख० ८, १४
सर्वा. समुद्रगाः पुण्या. सर्वे पुण्याः नगोत्तमा. ।
सर्वमायतनं पुण्य सर्वे पुण्या वनाश्रमाः ॥ पद्म०४. ८३.४६

तास्तु नद्य. सरस्वत्य. सर्वा. गङ्गाः समुद्रगा·
विश्वस्य मातरः सर्वा जगत्पापहरा. स्मृता.
ब्रह्माण्ड २. १६. ३१

भागवत (पंचम १६. १६) तथा ब्रह्माण्ड (द्वि० १६. २०-२३) आदि मे भी इसी प्रकार की प्रशंसा है। महाकवि कालिदास (कुमार १. १) भी तो हिमालय को 'देवतात्मा' कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थों के व्यापक क्षेत्र में सरिताओं एवं सागरों की ही गतार्थता नहीं बडे-बडे पावन तपःपूत अरण्य भी महातीर्थ हैं—नैमिषारण्य के माहात्म्य से कौन अपरिचित है ? ऋग्वेद (दे० दशम १४६) मे अरण्य को देवता के रुप मे सम्बोधित किया गया है। वामन पुराण म कुरुक्षेत्र के सात अरण्य बडे ही पावन एवं पापहर प्रतिपादित हैं

शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यत ।
येषा नामानि पुण्यानि सर्व पापहराणि च ॥
काम्यकं च वन पुण्यं" ....।

अस्तु, विस्तरेणालम्। तीर्थ-स्थानों से तात्पर्य पुण्य-प्रदेशों से है—वे नदियाँ हैं या पुष्करिणियाँ, सागर हैं कि संगम, वन हैं कि पर्वत—वे सभी स्थान जो किसी न किसी पुण्य-कार्य, तपस्या अथवा इज्या से पूत हो चुके हैं वे सब तीर्थों के नाम से प्रख्यात हुए। हम जानते ही हैं कि हमारे शरीर में ही कोई-कोई अवयव (जैसे दक्षिण हस्त) अन्य अवयवों की अपेक्षा विशेष पुनीत समझा जाता है उसी प्रकार पृथिवी के नाना प्रदेशों में कुछ प्रदेश अपनी प्राकृतिक सुषुमा, अपने अद्भुत प्रभाव, जलाभिवय अथवा अन्य किसी धार्मिक कार्य के कारण विशेष पूत समझे जाते हैं वे ही तीर्थ हैं। प्राचीनाचार्यों ने लिखा भी है :—

(i) यथा शरीरस्योद्देशा: केचिन्मेध्यतमा: स्मृता:।
तथा पृथिव्या उद्देशा: केचित् पुण्यतमा स्मृता:॥
प्रभावादद्भुताद्भूमे: सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थाना पुण्यता स्मृता॥ पद्म पु० द्वि० ६२.४६-७

(ii) मुख्या पुरुष यात्रा हि तीर्थयात्रानुपङ्गत:।
सद्भि: समाश्रितो भूप भूमिभागस्तथोच्यते॥
यद्धि पूर्णतमै: सद्भि: सेवित धर्म-सिद्धये।
तद्धि पुण्यतमं लोके सन्तस्तीर्थं प्रचक्षते॥ स्कन्द पुराण

अर्थात् धर्म-सिद्धि के लिये सज्जनों से सेवित स्थान को—वह सरिता-तट है, पुष्करिणी-प्रदेश है या संगम है अथवा वन-भाग या पर्वत-भाग या अन्य कोई ऐसा ही पावन प्राकृतिक प्रदेश—सभी तीर्थ की संज्ञा से पुकारे गये हैं।

तीर्थ-माहात्म्य की मन्दाकिनी के कुछ ही पावन तटों पर हम विचरण कर सके। विस्तार-भय से अब संक्षेप में तीर्थों की प्रधान और गौण सूची पर दृष्टि डालकर इस स्तम्भ को समाप्त करना है। ऊपर के उपोद्घात में तीर्थों की परिगणना में सर्वप्रथम नाम नदियों के हैं। नदियों में गङ्गा (नदीषु गङ्गा) का सर्वश्रेष्ठ पद है। अरण्यों में नैमिषारण्य, तडागों में पुष्कर तथा क्षेत्रों में कुरुक्षेत्र। महाभारत का गान है:—

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम्।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते॥ वन प० ८३ २०२

ब्रह्मपुराण तीर्थों को चार समूहों—दैव, आसुर, आर्ष एवं मानुष—में विभाजित करता है। इनमें प्रथम यथानाम ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवों के द्वारा प्रतिष्ठापित, द्वितीय असुरों के द्वारा सन्निविष्ट (जैसे गया), तृतीय आर्ष यथानाम ऋषि-प्रतिष्ठापित (यथा प्रभास, नरनारायण बदरिकाश्रम आदि) तथा अन्तिम मानुष—अम्बरीष, मनु, कुरु आदि राजन्यों के द्वारा।

इसी पुराण में दक्षिणापथ की ६ नदियों तथा हिमवदाविर्भूता उत्तरापथीय ६ नदियाँ—गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका तथा वितस्ता—को देव-तीर्थ माना गया है।

तीर्थों में 'त्रिस्थली' का माहात्म्य अति पुरातन है। त्रिस्थली से तात्पर्य प्रयाग, काशी और गया से है। इन महातीर्थों पर बड़े बड़े पोथे लिखे गये हैं। इनके अपने-अपने अनेक उपतीर्थ भी हैं। अस्तु, हम इन सभी तीर्थों पर यहाँ सविवरण वर्णन नहीं कर

सकते। विशेष ज्ञातव्य के लिये पुराणों का पारायण आवश्यक है। इस दिशा में डा० काणे का महनीय प्रयास बड़ा ही स्तुत्य है—(See H D. Vol. IV) | यतः यह अध्याय एवं इसका विषय हिन्दू प्रासाद की उस पृष्ठ-भूमि की ओर संकेत करता है जिससे तीर्थ-स्थापन एव तीर्थ यात्रा के लोक-धर्म में प्रासादों (मन्दिरों) की प्रतिष्ठा अनिवार्य एवं अभिन्न अङ्ग बनी; अतः हम उन्हीं तीर्थों पर अति संक्षेप में थोड़ा सा और विवेचन करेंगे जिनका सम्बन्ध देवतायतनों की प्रतिष्ठा से है। अथच विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्त में एक तीर्थों की देवतायतन-पुरस्सर सूची भी देने का प्रयास करेंगे।

गङ्गा—तीर्थों में महातीर्थ गङ्गा है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक महासंस्कृति में जननी, जन्म-भूमि और गङ्गा की त्रयी महापूज्या है। वैसे तो मध्यकालीन तीर्थ-ग्रन्थों में अपने-अपने जानपदीय संस्कारों एव स्व प्रान्त-प्रेम (Regional culture and Provincialism) के दृष्टि-कोण से पण्डितों ने एक तीर्थ का दूसरे तीथ से घटा बढ़ाकर लिखा है, परन्तु कुछ सामान्य तीर्थ हैं जो इस महादेश के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं—वाराणसी और रामेश्वरम् के समान गङ्गा सभी भारतीय हिन्दुओं का परम पावन तीर्थ है। नदियों में गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यतोया है। गङ्गा का महामाहात्य इसी से प्रकट है कि स्वयं पद्मनाभ कृष्ण कहते हैं—स्रोतसामस्मि जाह्नवी—गीता १०. ३१। गङ्गा के पावन तट पर अगणित प्रासादों, विमानों एव आयतनों का उदय हुआ है। सभी महातीर्थ—वाराणसी, प्रयाग, कनखल, हरिद्वार आदि गङ्गा के तट पर ही तो स्थित हैं।

अस्तु, गङ्गा-स्नान कैसे करना चाहिये, उसका क्या महत्व है, गङ्गा में अस्थि विसर्जन की परम्परा क्यों पल्लवित हुई—आदि नाना प्रश्नों पर तथा पुराणों में एवं महाभारत में गङ्गा-स्तुति की विस्तृत एवं वरेण्य विरुदावली (Grand Eulogy) पर जो बड़ा पृथुल प्रवचन है उससे कतिपय अवतरण यहाँ पर उद्धृत कर ही हमें सन्तोष करना है:

कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परम महत्॥
यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गावसेचनम्।
सर्वं तत्तस्य गङ्गापो दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्कर स्मृतम्।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता॥
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्।
तावत्स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते॥
न गङ्गासदृश तीर्थं न देवः केशवात्परः।
यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत्तपोवनम्॥
सिद्धि-क्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीर-समाश्रितम्।

महाभा० वनपर्व ८५. ८८-९७

स्नातानां शुचिभिस्तोयै गांगेयैः प्रयतात्मनाम्।
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि॥ महा० अनु० २६. ३१

श्रुताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीतावगाहिता ।
या पावयति भूतानि कीर्तिता च दिने दिने ॥
गङ्गा गङ्गेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि ।
स्थितैरुच्चारितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम् ॥
विष्णु पु० द्वितीय ८ १२०-२१

दर्शनात्स्पर्शनात्पानात् तथा गङ्गेतिकीर्तनात् ।
स्मरणादेव गङ्गायाः सद्यः पापैः प्रमुच्यते ॥ भविष्य-पुराण

गच्छंस्तिष्ठन् जपन्ध्यायन् भुञ्जन् जाग्रत्स्वपन् वदन् ।
यः स्मरेत् सततं गङ्गां सोऽपि मुच्येत बन्धनात् ॥
स्कन्द पु० का० ख० पूर्वा० २७ ३७ तथा नारद पुराण (उत्तर) ३९. १६-१७

सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा ।
गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गा - सागर - सङ्गमे ॥
तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः
मत्स्य पु० १०६. ५४; कूर्मपु० (प्र०)३७ ३४, गरुड़ पु० (पू०) ८१ १-२ पद्मपु० (पञ्चम) ६० १२

अकामो वा सकामो वा गङ्गायां योऽभिपद्यते ।
मृतस्तु लभते स्वर्गं नरकं च न पश्यति ॥ म० पु० १०७ ४

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत् ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता ॥ कू० पु०, प्रथ० ३९ ८

किं यज्ञैर्बहुवित्ताढ्यैः किं तपोभिः सुदुष्करैः ।
स्वर्गमोक्षप्रदा गङ्गा सुखसौभाग्यपूजिता ॥ पद्म० पञ्चम ६० ३९

किमष्टांगेन योगेन किं तपोभिः किमध्वरैः ।
वास एव हि गङ्गायां सर्वतोऽपि विशिष्यते ॥ नारदीय(उ०)३८. ३८

सर्व एव शुभः कालः सर्वो देशस्तथा शुभः ।
सर्वो जनो दानपात्रं श्रीमती जाह्नवी तटे ॥ का० ख० २७ ६९

जारजं पतितं दुष्टमन्त्यजं गुरुघातिनम् ।
सर्वद्रोहेण संयुक्तं सर्व - पातक - संयुतम् ॥
त्यजन्ति पितरः पुत्राः प्रियः पत्न्यः सुहृद्गणाः ।
अन्ये च बान्धवाः सर्वे गङ्गा तान्न परित्यजेत् ॥ पद्म स.म ६० २५-२६

तीराद् गव्यूतिमात्रं तु परितः क्षेत्रमुच्यते ।
तीरं त्यक्त्वा वसेत्क्षेत्रे तीरे वासो न चेष्यते ॥
एकयोजन - विस्तीर्णा क्षेत्र - सीमा तटद्वयात् ।
नारदीय (उ०) ४३ ११९-२०

नर्मदा—नदी-तीर्थों में गङ्गा के बाद नर्मदा का नाम आता है। नर्मदा का माहात्म्य इससे प्रकट है कि कहीं-कहीं पर गङ्गा से भी अधिक नर्मदा का महत्त्व स्थापित है

त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम् ।
सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम् ॥
पद्म० आदि० १३ ७, मत्स्य १८६ ११

नर्मदा का दूसरा नाम रेवा था। मत्स्य-पुराण (दे० १६४ ४५) तथा पद्म-पुराण (आ० ख० २१. ४४) का कथन है कि नर्मदा के स्रोत अमर-कण्टक से लगाकर उसके समुद्र-सङ्गम तक दशकोटि तीर्थ हैं। अग्नि एवं कूर्म म तो यह सख्या ६० करोड़ ६० हजार हो गयी। भले ही यह सख्या अतिशयोक्ति हो परन्तु यह निर्विवाद है कि दक्षिण के बहुसंख्यक तीर्थ एवं मन्दिर नर्मदा के तट पर उदय हुए और आज भी विद्यमान हैं। इनमे महेश्वर-तीर्थ (ओंकार), शुक्र-तीथ, भृगु-तीर्थ, जामदग्न्य तीर्थ आदि विशेष प्रख्यात हैं। अन्य नार्मद-तीर्थों में माहिष्मती की बड़ी महिमा है। यह ओंकार-मान्धाता के नाम से भी सकीर्तित है। नर्मदा-माहात्म्य का भी कुछ स्वल्प मे सकेत आवश्यक है। निम्न पद्यों का पारायण कीजिये:

पुण्या कनखले गङ्गा कुरुक्षेत्रे सरस्वती।
ग्रामे वा यदि वारण्ये पुण्या सर्वत्र नर्मदा॥ म० १८६ १०-११
नर्मदा सरिता श्रेष्ठा रुद्रदेहाद्विनि.सृता।
तारयेत्सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च। म० १९० १७
पितॄणां दुहिता पुण्या नर्मदा सरितां वरा।
तत्र श्राद्धानि दत्तानि अक्षयाणि भवन्त्युत॥ वायु० ७७ ३२
योजनानां शत साग्रं श्रूयते सरिदुत्तमा।
विस्तारेण तु राजेन्द्र योजनद्वयमायता॥ कू० द्वि० ४०.१२

टि०—जहाँ तक लम्बाई की नाप है वह तो प्रो० के० वी० रङ्गस्वामि आयङ्गर के मत में ठीक उतरती है परन्तु विस्तार तो इतना सर्वत्र नहीं।

गोदावरी—गोदावरी का माहात्म्य रामचरित से निखर उठा—यह हम सभी जानते हैं। दण्डकारण्य एवं पञ्चवटी का पावन प्रदेश गोदावरी के कूल पर ही है। बहुत से मन्दिरों का उदय भी इस महानदी के पावन प्रदेश पर पनपा। नासिक गोदावरी के तट पर स्थित है। गोदावरी की प्राचीन संज्ञा गौतमी थी। गोदावरी दक्षिण की गङ्गा है। ब्रह्म-पुराण की परम्परा में:

विन्ध्यस्य दक्षिणा गङ्गा गौतमी सा निगद्यते।
उत्तरे सापि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते॥ ब्र० ७८. ७७

ब्रह्म-पुराण मे गोदावरी के तट पर स्थित लगभग १०० तीर्थों का गुणगान है; उनमें त्र्यम्बक, कुशावर्त, जन-स्थान, गोवर्धन, प्रवरासङ्गम तथा निवासपुर विशेष प्रख्यात हैं।

गोदावरी की उपान्त-भूमि में नासिक एवं पञ्चवटी इन दो तीर्थों की बड़ी महिमा है। नासिक प्राचीन नगरी है। यह ईसा से कम से कम २०० वर्ष पूर्व विद्यमान थी। बाम्बे गजेटियर मे नासिक के ६० मन्दिरों एवं पञ्चवटी पर १६ मन्दिरों का उल्लेख है, परन्तु ये सभी मन्दिर कथाशेष हैं। १६८० ई० में औरंगजेब के दक्षिणी सूबेदार के द्वारा विनष्ट किये गये थे—यह ऐतिहासिक तथ्य है। आधुनिक सभी विद्यमान मन्दिर पूना के पेशवा (१७५०-१८१८) के द्वारा निर्मापित हैं। इनमें तीन विशेष उल्लेख्य हैं—पञ्चवटी का रामजी, नारोशंकर अथवा घण्टा-मन्दिर तथा सुन्दर-नारायण। पञ्चवटी के सीता-गुफा के निकट कालाराम का मन्दिर भी बड़ा विख्यात है।

गोदावरी-स्नान की महिमा के सम्बन्ध में ब्रह्मपुराण में प्रवचन है:—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च तीर्थानि भुवनत्रये ।
तानि स्नातुं समायान्ति गङ्गायां सिंहगे गुरौ ॥
षष्टिर्वर्षसहस्राणि भागीरथ्यावगाहनम् ।
सकृद्गोदावरीस्नाम सिंहयुक्ते बृहस्पतौ ॥ ब्र० १७५ ८३-८४.

अन्य नदी-तीर्थों का विस्तार अनावश्यक है। यमुनोपकूल-मन्दिरों (मथुरा-वृन्दावन आदि) से हम सभी परिचित ही हैं। अस्तु, अब नदी-तीर्थों से विदा लेकर पावन क्षेत्रों की पुण्य भूमि पर विचरण करें।

पुष्कर-क्षेत्र—महाभारत (वन पर्व ८२. २६-२७) का उद्घोष है:—

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महतान्विता. ॥
तत्राभिषेक य. कुर्यात्पितृदेवार्चने रत ।
अश्वमेधाद्दशगुण फल प्राहुर्मनीषिणः ॥

पद्म-पुराण का भी पारायण (पचम २७ ७८) सुनिये.—'नास्मात्परतर लोकेऽस्मिन्परिपठ्यते'। यह अजमेर से ६ मील पर है। यहाँ पर ब्राह्म-प्रासादों में एक अब भी विद्यमान है। इसके कुण्डों (ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ) की बड़ी महिमा है। इस क्षेत्र की पुष्कर-सज्ञा का कारण यहीं पर कमल-भू—कमलासन ब्रह्मा के द्वारा अपने पुष्कर (कमल) का विसर्जन है।

कुरु-क्षेत्र—यह अम्बाला से २५ मील पर है। यह महाक्षेत्र एव महातीर्थ है। इस पर अति प्राचीन संकेत भी प्राप्त हैं (दे० ऋ० दशम ३३ ४, ऐ० ब्रा० सप्त० ३०, तै० आ० पचम १ १ एव कात्यायन श्रौत-सूत्र आदि)। कुरुक्षेत्र का दूसरा नाम धर्मक्षेत्र पड़ा (दे० गीता – धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे')। आर्यों की गौरव-गाथा में कुरुक्षेत्र एव ब्रह्मावर्त दोनों ही भौगोलिक दृष्टि से बड़े प्रख्यात हैं। कुरुक्षेत्र पर प्राचीन प्रवचनों से प्रतीत होता है यह एक वेदिक सस्कृति का प्रख्यात केन्द्र था—विशेषकर यज्ञ स्थल—देवा वै सत्रमासत " तेषा कुरुक्षेत्रे वेदिरासीत्—तै० आ० पं० १ १। इस क्षेत्र का नाम महाराज कुरू से पड़ा। वामन-पुराण का प्राचीनाख्यान है—कुरु ने इन्द्र से वर मागा

यावदेतन्मया [illegible] धर्मक्षेत्रं तदस्तु व. ।
स्नातानां [illegible] च महापुण्यफल त्विह ॥

कितनी सी: [illegible] यहाँ पर कौन कौन तीर्थ तथा पुण्य-स्थान थे—
न [illegible] कतिपय प्रसिद्ध पुण्य-स्थानों का नाम-संकीर्तन
[illegible] परम प्रख्यात है। व्यास स्थली या व्यास तीर्थ
[illegible] से १८ मील पर) [illegible] स्थिपुर (यहीं पर
[illegible] अत यथार्थ [illegible] अतिरिक्त यहाँ पर
[illegible] ऋषी के [illegible] पृथूदक (सर्वश्रेष्ठ

वामनपुराण (दे० ३४. ३) तथा नारदीय (उ० ६५. ४-७) में कुरुक्षेत्र के सात पुण्यारण्यों का उल्लेख है:—काम्यक, अदितिवन, व्यासवन, फलकीवन, सूर्यवन, मधुवन तथा सितावन।

त्रिस्थली

अस्तु, विस्तारभय से अन्य नाना पावन एवं प्रख्यात क्षेत्रों का यहाँ संकीर्तन न कर त्रिस्थली – प्रयाग, काशी और गया पर अति संक्षेप में समाहार कर तीर्थ-सूची से तीर्थ-माला ग्रथनीय होगी।

प्रयागराज—प्रयाग को तीर्थ-राज कहा गया है। प्रयाग पर सर्वप्राचीन संकेत ऋग्वेद के एक खिल में (दे० मं० १०. ७५) में है। पुराणों एवं महाभारत में इसकी बड़ी महिमा गायी गयी है। तीर्थराज प्रयाग के प्रधानतया तीन विभाग किये गये हैं:—प्रयाग-मण्डल, प्रयाग तथा वेणी (त्रिवेणी)। प्रयाग शब्दार्थतः प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ-स्थल होने के कारण प्रयाग (प्र (प्रकृष्ट) + याग (जहाँ पर)) कहलाया। राज शब्द के योग से यह तीर्थों का राजा है—ऐसा पुराणों का विश्वास है। प्रयाग के पूर्वोक्त तीन प्रधान विभाजनों के अनुरूप निम्नलिखित १४ उप-तीर्थ भी हैं:—

१. वट (अक्षय वट)—यहाँ प्राणत्याग प्रशस्त माना गया है।
२. दो नाग—कम्बल तथा अश्वतर—यमनोपकूल (दक्षिणे)।
३. प्रतिष्ठान (समुद्र-कूप)—गंगा के पूर्वभाग।
४. सन्ध्यावट ....
५. हंस-प्रपतन—प्रतिष्ठान के उत्तर, (गंगापूर्व)
६. कोटि-तीर्थ ....
७. भोगवती—प्रजापति की वेदी, वासुकि के उत्तर।
८. दशाश्वमेधक— ....
९. ऊर्वशीपुलिन—यहाँ पर भी प्राण-त्याग प्रशस्त है।
१०. ऋण-प्रमोचन—यमुमा के उत्तर तथा प्रयाग के दक्षिण।
११. मानस—गंगा के उत्तर।
१२. अग्नितीर्थ—यमुना के दक्षिण कूल पर।
१३. विरज— „ उत्तर „
१४. अनरक—धर्मराज के पश्चिम।

निम्नोद्धृत पद्यों में प्रयाग-प्रतिष्ठा पर प्रचुर प्रकाश पड़ेगा:—

एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
अत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः ॥ कू० प्र० ३६,२०

टि०—महाकवि कालिदास भी तो इसी प्राचीन परम्परा की आस्था का विश्वास दिलाते हैं.—

'तत्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीर-बन्ध.' ॥ रघु० १३,५८

दशतीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथापराः।
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ ॥

माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः ।
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ महा० अनु० २५.३६–३८
दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्तिकालम्भनाद्वापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥म०१०४ १२, कू० प्र०,३६ २७
गंगा यमुनयोर्वीर सङ्गमं लोकविश्रुतम् ।
यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ॥
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्भरतसत्तम ॥ महा० व० ८७.१८–१९
प्रकृष्टं सर्वयागेभ्यो प्रयागमिति गीयते ।
दृष्ट्वा प्रकृष्टयागेभ्यः पुष्टेभ्यो दक्षिणादिभि ॥
प्रयागमिति तन्नाम कृत हरिहरादिभि ॥ (दे० त्रिस्थली पृ० १३)
प्रकृष्टत्वात्प्रयागोऽसौ प्राधान्याद्राजशब्दवान् ॥ ब्रह्म पु० ॥
आप्रयाग प्रतिष्ठानाद्धपुरा वासुकेह्रदात् ।
कम्बलाश्वतरौ नागौ नागश्च बहुमूलकः ॥म १०४ ५,प०प० ३९ ६९-७०
पूर्वपार्श्वे तु गङ्गायास्त्रिषु लोकेषु भारत ।
कूप चैव तु सामुद्रं प्रतिष्ठानं च विश्रुतम् ॥ म० १०६.३
'तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी' । महा० व० ८५.७३
प्रयागे निवसन्त्येते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
उत्तरेण प्रतिष्ठानाच्छद्मना ब्रह्म तिष्ठति ।
वेणी माधवरूपी भगवांस्तत्र तिष्ठति ॥
माहेश्वरो वटो भूत्वा तिष्ठते परमेश्वरः ।
ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥
रक्षन्ति मण्डलं नित्यं पापकर्मनिवारणात् । म० तृ० ४–१०
कुरुक्षेत्रे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
गङ्गायां पुष्करे सेतौ गङ्गाद्वारे च नैमिषे ॥
यद्दाम दीयते शक्त्या तदानन्त्याय कल्पते । (दे० त्रिस्थ० पृ० २५)
ओमित्येकाक्षर ब्रह्म परब्रह्माभिधायकम् ।
सदेव वेणी विज्ञेया सर्वसौख्यप्रदायिनी ॥
अकारः शारदा प्रोक्ता प्रद्युम्नस्तत्र जायते ।
उकारो यमुना प्रोक्तानिरुद्धस्तज्जलात्मकः ॥
मकारो जाह्नवी गङ्गा तत्र सङ्कर्षणो हरिः ।
एवं त्रिवेणी विख्याता वेदबीज प्रकीर्तित । (दे० त्रिस्थ० ५० ८)

काशी - प्राचीनता, पुण्यता एवं प्रशस्तता में काशी की समता इस देश की (और विदेश की भी) कोई भी नगरी नहीं कर सकती। धर्म पीठ और विद्या पीठ—धर्म-क्षेत्र एवं शास्त्र क्षेत्र का यह काञ्चन-रत्न सयोग अन्यत्र दुर्लभ है। न केवल हिन्दू-धर्म, उसकी एक विशिष्ट एवं विलक्षण शाखा बौद्ध—धर्म का भी यह प्रधान ही नहीं प्रथम प्रवर्तन-पीठ है।

वाराणसी और काशी का बड़ा प्राचीन इतिहास है। शतपथ ब्रा०, गोपथ ब्रा० बृहदारण्य एवं कौषीतकी उपनिषदों आदि में भी यह सामग्री पठनीय है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के महाभाष्य में भी काशी के प्राचीन संकेत हैं। महाभारत और हरिवंश में तो पूरा इतिहास पढ़ने को मिलेगा। बौद्ध-ग्रन्थों के परिशीलन से भी यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा बुद्ध के समय (ई० पू० पञ्चम शतक) काशी, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत तथा कौशाम्बी के समान समृद्ध एवं प्रख्यात नगर था। पुराणों में तो पृथुल प्रवचन हैं।

अस्तु, इस लम्बे तथा विशाल इतिहास पर विशेष चर्चा यहाँ अप्रासङ्गिक है। काशी के प्राचीन पाँच नाम हैं—वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन, और स्मशान अथवा महाश्मशान। इन नामों का भी लम्बा इतिहास है। संक्षेप में काशी काशते प्रकाशते राजते वा से सम्पन्न हुआ तथा यह प्रकाश उस ज्योति से अभीष्ट है जो भगवान् शङ्कर के ज्योतिर्लिङ्ग की आवाचिका है। वाराणसी में वहाँ की दो प्राचीन नदियों—वरणा और असि का इतिहास छिपा है। वाराणसी के भूगोल के अतिरिक्त उसकी तत्वविद्या बड़ी रोचक है। वरणा और असि के भौगोलिक अर्थ से एक आध्यात्मिक रहस्य पर जाबालो-पनिषद् का जो रहस्य है वह काशी के तीसरे नाम पर भी बड़ा सुन्दर संकेत करता है। अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—इस अनन्त, अव्यक्त आत्मा को कैसे जाना जाय? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया वह अविमुक्त के रूप में उपास्य है क्योंकि आत्मा अविमुक्त में प्रतिष्ठित है। पुनः प्रश्न उठा अविमुक्त की प्रतिष्ठा कहाँ पर है? उत्तर आया—वरणा और नासी के मध्य में अविमुक्त प्रतिष्ठित है? वरणा और नासी का क्या अर्थ? वरणा सर्वेन्द्रिय-दोषों को काटने वाली (नाश करने वाली) तथा नासी सर्वेन्द्रिय-जन्य पापों को काटने वाली। फिर प्रश्न हुआ इन दोनों का स्थान कहाँ?—तो याज्ञवल्क्य का उत्तर हुआ—भ्रू और नासिका का जो सन्धि-प्रदेश है—अर्थात् ध्यानम्।

अविमुक्त (काशी के तीसरे नाम) का सामान्य अर्थ न+विमुक्त है अर्थात् भगवान् शङ्कर और भगवती पार्वती के द्वारा यह स्थान कभी भी नहीं विमुक्त—छोड़ा गया।

चौथा नाम आनन्द-कानन का साधारण अर्थ है क्योंकि काशी शिव की प्रियतमा नगरी है और यहाँ पर उनको बड़ा आनन्द मिलता है अत: आनन्द-कानन। इसे श्मशान या महाश्मशान क्यों कहा जाता है? स्कन्द की व्याख्या है—'श्म' का अर्थ शव है, 'शान' का अर्थ शयन है। अतः जब प्रलय आता है तो सभी महाभूत यहाँ पर शवरूप में शयन करते हैं इसलिये इसकी महाश्मशान संज्ञा है। पद्म-पुराण में शिव ने स्वयं कहा है—यह अविमुक्त (काशी) श्मशान के नाम से इसलिये विख्यात है क्योंकि मैं यहीं से इस सम्पूर्ण जगत का संहार करता हूँ।

अस्तु, काशी की सबसे बड़ी महिमा बाबा विश्वनाथ का मन्दिर है। विश्वनाथ या विश्वेश्वर तो एक ही है परन्तु अविमुक्तेश्वर और विश्वेश्वर में पुराणों में भेद पाया जाता है। वाचस्पति के मत में अविमुक्तेश्वर-लिङ्ग और विश्वनाथ एक ही हैं। यद्यपि शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की परम्परा एवं प्रसिद्धि से हम सभी परिचित हैं, परंतु यह अविमुक्तेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग सर्वश्रेष्ठ है—दे० काशी-खण्ड २६. ३१—'ज्योतिर्लिङ्गं तदेकं हि ज्ञेयं विश्वेश्वराभिधम्'।

इस प्रधान पीठ के अतिरिक्त काशी के अन्य पुण्य-पीठ भी हैं जिनको पञ्चतीर्थी के नाम से पुकारा गया है—म० पु० के अनुसार दशाश्वमेध, लोलार्क (सूर्य-मन्दिर जहा पर द्वादशादित्यों की प्रतिष्ठा है), केशव, विन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका। आजकल तो पञ्चतीर्थों मे गङ्गा और असि का सगम, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पञ्चगङ्गा घाट और गङ्गा तथा वरुणा का सगम प्रसिद्ध हैं। वाराणसी-तीर्थ यात्रा में इन प्रधान पीठों के दर्शन के अतिरिक्त 'पञ्चक्रोशी परिक्रमा' का भी बड़ा माहात्म्य है। काशी में कपालमोचन घाट भी आजकल प्रसिद्ध है। सम्भवत. यह मध्यकालीन परम्परा है। अस्तु निम्न पद्यों में काशी-पुराण का कुछ आभास मिलेगा·—

अविमुक्तिमिद क्षेत्रं कदारभ्य भुवस्तले।
परां प्रथितिमापन्नं मोक्षदं चाभवत्कथम्॥
कथमेषा त्रिलोकीड्या गीयते मणिकर्णिका।
तत्रासीर्त्किं पुरा स्वामिन् यदा नामरनिम्नगा॥
वाराणसीति काशीति रुद्रवास इति प्रभो।
अवाप नामधेयानि कथमेतानि सा पुरी॥
आनन्दकानन रम्यमविमुक्तमनन्तरम्।
महाश्मशानमिति च कथ ख्यात शिखिध्वज॥ स्कन्द० का० २६, २-५
अस्यानन्दवन नाम पुराकारि पिनाकिना।
क्षेत्रास्यानन्दहेतुत्वादविमुक्तमनन्तरम्॥ स्क० का० २६ ३४
काशतेऽत्र यतो ज्योतिस्तदनाख्येमीश्वरः।
अतो नामापर चास्तु काशीति प्रथित प्रभो॥ स्क० का०२६, ६७
काशी ब्रह्मेति विख्यात तद्विवर्तो जगद्भ्रम।
अविमुक्त तदेवाहुः काशीति ब्रह्मवादिन.॥ त्रिस्थ० पृ० ८८
वरणायास्तथा चास्या मध्ये वाराणसी पुरी। पद्म० आ० ३३ ४६
असि महासिरूपा च प्राप्य सन्मतिखण्डनीम्?
दक्षिणोत्तरदिग्भागे कृत्वासिं वरणां सुराः।
क्षेत्रस्य मोक्षनिक्षेपरक्षानिर्वृतिमाययु.॥ का० ३० २०-२१
वरणा च असी चापि द्वे नद्यौ सुरवल्लभे।
अन्तराल तयो क्षेत्रं मध्ये वध्या न विशते क्वचित्॥ पद्म० पञ्च०, १४ १६१
मुने प्रलयकालेऽपि न तत्क्षेत्रं कदाचन।
विमुक्त हि शिवाभ्यां यदविमुक्त ततो विदु॥ स्क० काशी २६ २७
विमुक्त न मया यस्म न्मोक्ष्यते वा कदाचन।
मम क्षेत्रमिद तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम्॥ लिङ्ग (पू०) ९२ ४५-४६
अविशब्देन पापस्तु वेदोक्त कथ्यते द्विज।
तेन मुक्त मया जुष्टमविमुक्तमतोच्यते॥ लि० (पू०) ९२ १४३
यथा प्रियतमा देवि मम त्वं सर्वसुन्दरि।
तथा प्रियतर चैतन्मे सदानन्दकाननम॥ का० ३२ १११

श्मशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते।
निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः॥
महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते।
शेरतेऽत्र शवा भूत्वा श्मशानं तु ततो महत्॥ का० ३० १०३-४
वाराणसीति काशीति रुद्रवास इति द्विज।
महाश्मशानमित्येकं प्रोक्तमानन्दकाननम्॥ ३०. १११
श्मशानमेतद् विख्यातमविमुक्तमिति श्रुतम्।
कालो भूत्वा जगदिदं संहराम्यत्र सुन्दरि॥ पद्म० १ ३३. १४
महाश्मशानमासाद्य यदि दैवाद्विपद्यते।
पुनः श्मशानशयनं न क्वापि लभते पुमान्॥ का० ३१. १०५
जन्मान्तरसहस्रेषु यत्पापं पूर्वसञ्चितम्।
अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत्सर्वं व्रजति क्षयम्॥ म० १८१. १७
नहि योगादृते मोक्षः प्राप्यते भुवि मानवैः।
अविमुक्ते निवसतां योगो मोक्षश्च सिध्यति॥ म० १८५. १५-१६
सहोवाचेति जाबालिरारुण्येऽसिरिडा मता।
वरणा पिङ्गला नाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम्॥
सा सुषुम्ना परा नाडी त्रयं वाराणसी त्वसौ। स्क० का० ५-२५
पिङ्गला नाम या नाडी आग्नेयी सा प्रकीर्तिता॥
शुष्का सरिच्च सा ज्ञेया लोलार्को यत्र तिष्ठति।
इडानाम्नी च या नाडी सा सौम्या प्रकीर्तिता।
वरणा नाम सा ज्ञेया केशवो यत्र संस्थितः॥
आभ्यां मध्ये तु या नाडी सुषुम्ना सा प्रकीर्तिता।
मत्स्योदरी च सा ज्ञेया विषुवं तत्प्रकीर्तितम्॥ (दे० त्रिस्थ०)
तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने।
दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः॥
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका।
एभिस्तु तीर्थवर्यैश्च वर्ण्यते ह्यविमुक्तकम्॥ म० १८५. ६८-६९
तस्यार्कस्य मनो लोलं यदासीत्काशिदर्शने।
अतो लोलार्क इत्याख्या काश्यां जाता विवस्वतः॥ स्क० का० ४६. ४८

गया—'त्रिस्थली' के दो स्थल—प्रयाग और काशी पर इस मन्दिर प्रवचनोपरान्त अब गया पर चलो पूर्वजों की गया करें। वास्तव में तीर्थ-क्षेत्र एवं मन्दिर-पीठ दोनों की दृष्टि से गया का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक हिन्दू अपने दिवंगत पिता की गया करने का अभिलाषी रहता है। बहुसंख्यक अपना मनोरथ भी सिद्ध करते हैं। गया हिन्दुओं एवं बौद्धों दोनों का ही महातीर्थ है। गया और बुद्ध-गया इन दोनों नामों से हम परिचित हैं। बुद्ध गया पर हम आगे तीसरे पटल पर लिखेंगे। हिन्दू-दृष्टि से गया की संक्षिप्त समीक्षा आवश्यक है।

वायु-पुराण का गया-माहात्म्य बड़ा विशद है। गया के इतिहास, पुराण एवं नाना उपाख्यानों के इतिवृत्तों एवं रूपक-रचनाओं का यह आगार है। गया एक अति प्राचीन स्थान है—इसका प्राचीन-तम साहित्य पोषण करता है। 'गय' आर्ष-संज्ञा है। ऋ० दशम, ६३. १७ तथा ६४. १७ में—'असतावि जनो दिव्यो गयेन'—आया है, अतः यह आकूत समर्थित होता है। अथर्ववेद (१. १४. ४) में गय एक जादूगर के रूप में निर्दिष्ट है। वैदिक संहिताओं के असुर, दास, राक्षस आदि अनार्य जादूगर भी थे। अतः बहुत सम्भव है अथर्ववेद का यह जादूगर 'गय' पुराणों का असुर—गयासुर बन गया।

'गयशिरस्' की तथाकथित पौराणिक कल्पना पुराणों से भी प्राचीन है। निरुक्त-कार यास्क ने 'इदम् विष्णुर्-विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' की शाकपूणि की व्याख्या में प्राकृतिक (भू, अन्तरिक्ष तथा द्यौ) संकेत के साथ-साथ और्णवाय की व्याख्या में समारोहण, विष्णु-पद एवं गयशिरस का भौगोलिक संकेत भी दिया है। अथच 'गयशिर' शब्द पर नाना संकेत बौद्ध-ग्रन्थों में आये हैं (दे० महावग्ग)। जैन-ग्रन्थ (दे० उत्तराध्यान-सूत्र) भी इस शब्द का संकेत प्रस्तुत करते हैं। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (दे० १२ वा सर्ग) में भगवान बुद्ध राजर्षि गय की आश्रम-नगरी गये थे—ऐसा वर्णन है। वहीं पर (दे० १८ वा सर्ग) गया में स्थित उरुविल्वा नामक काश्यपीय आश्रम पर भी गौतम पधारे—ऐसा भी उल्लेख है। विष्णु-धर्मोत्तर (८५. ४०) में विष्णुपद की महिमा में उसे श्राद्ध का पुण्य स्थान माना गया है। समारोहण यथानाम किसी 'प्रान्तर' प्रदेश (किसी पहाड़ी के ऊपर समतल भूमि पर स्थिति नगर या दुर्ग) से है। सम्भवतः फल्गु नदी के निकट पहाड़ी से इसका परामर्श है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि और्णवाय का यह 'गयशिरस' संकेत गया से ही है। गया की 'गयशिरस' संज्ञा का पौराणिक आख्यान बड़ा ही रोचक है। गयासुर नामक एक महापराक्रमी असुर था, जिसकी ऊँचाई १२५ योजन तथा परीणाह (मोटाई) ६० योजन था। वह कोलाहल पर्वत पर सहस्रों वर्ष कठिन तपस्या करता रहा। अब देवगण आतङ्कित हो उठे। ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा उनको लेकर शिवधाम पधारे। शिवने कहा विष्णु के पास जाओ। अब विष्णु सबको साथ लेकर गयासुर के पास आये। विष्णु ने उसकी इस महा तपस्या का कारण पूछा और वर मागने को कहा। गयासुर ने अपनी सर्वतो-वरिष्ठा पुण्यता मागी। देवों ने 'तथास्तु' कहा और स्वर्ग चले गये। अब क्या जो कोई गयासुर के पावन शरीर को छूता वही पुण्यात्मा हो जाता और स्वर्ग पहुँचता। वेचारे यम का आधिराज्य समाप्त हुआ, कोई वहा भूलकर भी न जाता। अब यम परेशान हुए—ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा यम को साथ लेकर पुनः विष्णु के पास गये और कहा आप गयासुर से यज्ञार्थ उसका पुण्य शरीर माग लें। विष्णु की प्रार्थना गयासुर ने मान ली और धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा—शिर कोलाहल पर्वत के उत्तर में और पैर दक्षिण में। अब ब्रह्मा ने अपने यज्ञ-सभार जुटाये। परन्तु यज्ञ-कार्य में ब्रह्मा को एक बाधा दिखाई पड़ी—गयासुर का शरीर हिल रहा था। ब्रह्मा ने यम से उस पर एक शिला रखने को कहा तब भी शरीर का स्पन्दन न रुका। अब ब्रह्मा ने शिवादि देवों से उस पर खडे होने को कहा जिससे उसका हिलना बन्द हो। इस पर भी जब हिलना न रुका तो वेचारे पितामह पुनः पुराण-पुरुष विष्णु के पास गये और कहा गयासुर और उस पर स्थित शिला को हिलने से बचाइये। विष्णु ने

अपनी 'मूर्ति' देकर कहा जाओ इसको रख दो हिलना बन्द हो जावेगा। परिणाम न निकला। अन्ततोगत्वा विष्णु भी वहाँ आ गये और स्वयं जनार्दन, पुण्डरीक तथा आदि-गदाधर के रूप में, ब्रह्मा प्रपितामह पितामह, फल्ग्वीश, केदार और कनकेश्वर के पाच रूपों में, विनायक गणेश गजरूप में तथा इसी प्रकार सूर्य, लक्ष्मी (सीता), गौरी (मङ्गला), गायत्री सरस्वती भी सभी अपने अपने नाना रूपों में उस शरीर पर सवार हो गये। अब जाकर गयासुर का शरीर स्तब्ध हुआ। गयासुर को अब शिकायत हुई—इस तरह उसे क्यों धोका दिया गया? जब उसने अपना पुण्य शरीर ब्रह्मा को यज्ञार्थ दे ही दिया था तो विष्णु के वचन-मात्र से ही वह स्तब्ध हो जाता पुन. इस सब लाद से क्या प्रयोजन? उस पर भी विष्णु ने अपनी गदा रख दी (आदिगदाधर)—देवों ने प्रसन्न हो कर गयासुर से वरदान मागने को कहा तो उसने जो वरदान चुना वही आगे गया क्षेत्र के माहात्म्य का मूलमन्त्र है। गयासुर ने वर मागा—"जब तक पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारागण का अस्तित्व है तब तक ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी ये देव मेरी इस शिला पर बने रहें। यह पवित्र क्षेत्र मेरे नाम से विश्रुत हो। सभी तीर्थ पञ्च क्रोश-परिमित गया-क्षेत्र एवं क्रोशैक-परिमित गयशिर-क्षेत्र के मध्य में केन्द्रित रहें। सभी देवगण अव्यक्त (पद-चिन्हादि) अथवा व्यक्त (देव-मूर्ति) रूप में विराजमान रहें। जिनको यहाँ पर सपिण्ड श्राद्ध दी जावे वे ब्रह्मलोक जावें और ब्रह्म-हत्या आदि जघन्य पाप का भी यहाँ नाश हो जावे।" देवों को तथास्तु कहना पड़ा।

गया के पुराणमाख्यानम् पर इस संक्षिप्त प्रवचन के उपरान्त गयावाल ब्राह्मणों की दुर्दशा पर कुछ अश्रुकणों का पात आवश्यक है। ब्रह्मा ने इस महातीर्थ को ब्राह्मणों को दे डाला, यहाँ पर सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं समृद्धिया थीं। 'असन्तुष्टाः द्विजाः नष्टाः' जो कहा गया है वह ठीक ही है। यहा के ये ब्राह्मण बड़े लालची थे। उनका पेट नहीं भरा। उन्होंने धर्मारण्य में धर्मराज के नाम पर बड़ा यज्ञानुष्ठान किया तथा यज्ञ-दक्षिणा मागी। ब्रह्मा ने जब सुना तो बड़े क्रुद्ध हुए और आकर शाप दे गये और उनका सारा ऐश्वर्य भी ले गये। बेचारे ब्राह्मण विलाप करने लगे तो ब्रह्मा ने कहा अब तुम्हारे लिये यात्रियों के द्वारा प्रदत्त दान-दक्षिणा के अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं।

अन्त में गया के प्रधान उप-तीर्थों का भी स्वल्प संकीर्तन अपेक्षित है। गया के तीर्थों की संख्या काफी बड़ी है, परन्तु तीन महातीर्थ बहुत प्रशस्त हैं, जिनका दर्शन गया-यात्री के लिये अनिवार्य है। फल्गु नदी का स्नान, विष्णुपद तथा अक्षयवट का दर्शन। विष्णु-पद का मन्दिर सबसे बड़ा है जो भगवान् विष्णु के पद-चिन्ह पर उत्थित हुआ है। यह एक पहाड़ी पर है जो फल्गु नदी के पश्चिम पार्श्व में स्थित है। गया में लगभग ४५ श्राद्ध-वेदिया हैं जिनमें पाच प्रमुख हैं—प्रेत-शिला, राम-शिला, राम-कुण्ड, ब्रह्म-कुण्ड तथा काक-बलि। पञ्चक्रोशी गया के अतिरिक्त क्रोशैक परिमित गय-शीर्ष के मुण्डपृष्ठ, प्रभास, गृध्रकूट, नागकूट भी तीर्थ परम पावन माने जाते हैं।

'महाबोधि तरु' हिन्दुओं के लिये भी उतना ही पूज्य है जितना बौद्धों के लिये—गया-माहात्म्य का यह सामान्य औदार्य है। उत्तर-मानस तथा मातङ्ग-वापी भी प्रख्यात तीर्थ हैं।

वायु तथा गरुडपुराण आदि में वर्णित निम्नलिखित गया-तीर्थ-सूची विशेष द्रष्टव्य है

पुण्यतोया सरिताएं	पावन पर्वत एवं उनके कूट	
फल्गु महानदी	गयाशिर	आदिपाल
घृतकुल्या	मुण्डपृष्ट	क्रौंचपाद
मधुकुल्या	प्रभास	रामशिला
मधुस्रवा	उद्यन्त	प्रेतशिला
अग्निधारा	भस्मकूट	नग
कपिला	अरविन्दक	ब्रह्मयोनि
वैतरणी	नागकूट	
देविका	गृध्रकूट	
आकाशगङ्गा		

पुण्य-स्नान-स्थान		पावन स्थान	
फल्गुतीर्थ	उत्तरमानस	पञ्चलोक	आम्र
रामतीर्थ	दक्षिणमानस	सप्तलोक	गृध्रकूटवट
शिलातीर्थ	रुक्मिणीकुण्ड	वैकुण्ठ	महाबोधितरु
गदालोल	प्रेतकुण्ड	लोहदण्डक	
वैतरणी	निःधारा	गोप्रचार	
ब्रह्मसर	पुष्करिणी	धर्मारण्य	
ब्रह्मकुण्ड	मतङ्गवापी	ब्रह्मयूप	

टि०—पावन पदों में विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, काश्यप, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, साम, आवसथ्य, शक्र, अगस्त्य, क्रौञ्च, मातङ्ग, सूर्य, कार्तिकेय तथा गणेश के प्रसिद्ध हैं जिनमें चार सर्व-प्रसिद्ध—काश्यप, विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा—उनमें 'ब्रह्मपद' सर्व-श्रेष्ठ।

अन्त में निम्न श्लोकों में गया-माहात्म्य देखिये :—

अश्मपृष्ठे गयायां च निरविन्दे च पर्वते।
तृतीयां क्रौञ्चपद्यां च ब्रह्महत्या विशुध्यते॥ महा० अनु० २५ ४२

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गया व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नील वा वृषमुत्सृजेत्॥
महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वट॥
यत्र दत्त पितृभ्योऽन्नमक्षय्य भवति प्रभो।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुनामा महानदी। महा० वन० ८७-१०-१२

गयाशिरे तु यत्किञ्चिन्नाम्ना पिण्ड तु निर्वपेत्।
नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयु॥ लिखित स्मृति Kane H D Vol. IV P. 646

ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोग्रहे मरणं तथा।
वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेषा चतुर्विधा ॥ वायु० १०५-१६
गङ्गापादोदक विष्णोः फल्गुर्ह्यादिगदाधरः।
स्वयं हि द्रवरूपेण तस्माद्गङ्गाधिकं विदुः ॥ वा० १११-१६

यह अध्याय अपेक्षाकृत बहुत बड़ा हो गया। ऐसा प्रतीत होता है 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'। कहा तो हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमियों में तीर्थ-माहात्म्य की लोक-धर्मिणी संस्था का मूल्याङ्कन करने चले थे वहा वह स्वयं महा प्रासाद के रूप में इतनी ऊँची उठ गयी। वास्तव में हिन्दू संस्कृति का मर्म यही है जो अणोरणीयान है वही महतो महीयान बन जाता है।

अस्तु, ग्रन्थ-विस्तार-भय से अब यह विवरण सकोच्य है। परन्तु अभी बहुत से तीर्थ एवं महातीर्थ तथा क्षेत्र, धाम, मठ छूट गये। भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक इतिहास में पुण्यनगरियों की अत्यन्त प्राचीन पुण्य-परम्परा है :—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमोत्तमाः ॥ ब्रह्माण्ड चतु० ६०-६१
काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि।
मथुरावन्तिका चैता सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः ॥

धामों में बदरीनाथ, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर तथा द्वारका अत्यन्त पावन एवं प्रसिद्ध हैं। इन पर स्थित मठों एवं मन्दिरों की कुछ विस्तार से समीक्षा हम आगे करेंगे।

(दे० तृतीय पटल—प्रासाद-वास्तु के स्मारक)

यहा पर जगन्नाथपुरी, जो पुरुषोत्तम-क्षेत्र के नाम से प्रख्यात है, उस पर थोड़ा सा विवेचन प्रासङ्गिक है।

जगन्नाथपुरी उड़ीसा में है। उड़ीसा मे चार प्रधान तीर्थ-क्षेत्र हैं—भुवनेश्वर (चक्रतीर्थ), जगन्नाथ (शङ्ख-क्षेत्र), कोणार्क (पद्म-क्षेत्र) तथा जैपुर (गदा-क्षेत्र)।

पुरुषोत्तम तीर्थ (जगन्नाथपुरी) पर ब्रह्मपुराण (दे० अ० ४७-७० लगभग १६०० श्लोक) तथा बृहन्नारदीय (उत्तरार्ध अ० ५२-६१ लगभग ८०० श्लोक) में बड़े विस्तार से वर्णन है। उड़ीसा की दो और संज्ञायें हैं—ओड्र तथा उत्कल। पुराणों की वार्ता है : अवन्ती के राजा इन्द्रद्युम्न इस महातीर्थ की गौरव-गाथा सुनकर अपने सैन्य, सेवक, पुरोहितों और स्थपतियों को लेकर यहा पर भगवान वासुदेव के दर्शनार्थ आ पहुँचा। वहाँ पर भगवान जगन्नाथ की इन्द्रनीलमणिमयी प्रतिमा थी जो वालुका में विलुप्त हो लतागुल्म से अदृश्य थी। इन्द्रद्युम्न ने वहाँ पर अश्वमेध यज्ञ किया और एक बड़ा प्रासाद (मन्दिर) बनवाया और जब उस मन्दिर में प्रतिमा-प्रतिष्ठा का अवसर आया तो रात्रि में उसे स्वप्न हुआ कि समुद्रवेला पर स्थित वटवृक्ष के निकट प्रातरुत्थाय जावे और वटवृक्ष को काट लावे। राजा ने वैसा ही किया और वहाँ पर उसे दो ब्राह्मण मिले जो वास्तव में स्वयं भगवान विष्णु और विश्वकर्मा थे। भगवान् ने राजा से कहा कि उनका यह साथी (दूसरा ब्राह्मण) तुम्हारे लिये प्रतिमा बनावेगा। विश्वकर्मा ने इन्द्रद्युम्न के द्वारा निर्मापित प्रासाद में

प्रतिष्ठार्थ कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की तीन काष्ठमयी मूर्तियाँ बनाकर प्रदान कीं। विष्णु ने राजा को बिना मांगे वर भी दिया कि जिस कुण्ड पर उसने यज्ञान्त अवभृथ स्नान किया है वह उसके नाम से विख्यात होगा तथा जो आगे के लोग इसमें स्नान करेंगे वे इन्द्रलोक को जायेंगे। अस्तु, इस वार्ता से यह ऐतिहासिक निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषोत्तम एक प्राचीन स्थान था जो नीलाचल के नाम से विश्रुत था। यहा पर कृष्ण की उपासना में काष्ठमयी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा से यह परम्परा कुछ विशेष प्राचीन प्रतीत होती है।

राजेन्द्रलाल मित्र (See 'Antiquities of Orissa') का आकूत है पुरुषोत्तम-क्षेत्र को तीन ऐतिहासिक कालों में विभाजित किया जा सकता है—प्राचीनतम हिन्दू-काल (Hindu period), प्राचीन बौद्ध-काल (Buddhist period) तथा पूर्व-मध्यकालीन वैष्णव-काल (Vaisnava period)। प्राचीनतम हिंदू काल का कुछ आभास ऊपर की पौराणिक वार्ता से प्राप्त हो सकता है। बौद्ध-काल के बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य यह है कि उत्कल (उड़ीसा) में अशोक के शिला-लेख (दे० धौली की पहाड़ी), एव खण्डगिरि (जो भुवनेश्वर से पाच मील की दूरी पर है) मे बौद्ध-कालीन गुहा-मन्दिरों के साथ-साथ बौद्ध प्रभाव में जगन्नाथ की रथ-यात्रा (Car-procession) बुद्ध की दन्त-चिन्ह-यात्रा (Procession of Buddha's Tooth-relic) का सादृश्य रखता है एव जगन्नाथ-मन्दिर की मूर्तित्रय-परम्परा (दो भाइयों के साथ बहन) पर बौद्ध-धर्म के त्रिक—बुद्ध, धर्म एवं संघ का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जगन्नाथपुरी का वैष्णव-धर्म उस उदात्त एवं सहिष्णु समय का उद्घोष करता है जब शैवों एव वैष्णवों के पारस्परिक सौहार्द्र की सरिता बह निकली थी। जगन्नाथ के प्रधान प्रासाद के अतिरिक्त यहा पर १२० मन्दिर और हैं जिनमें १३ तो शिवालय ही हैं। सूर्य-मन्दिर भी हैं। हिन्दू-धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदाय यहा पर प्रतिष्ठित हैं। तभी तो सभी हिन्दुओं का चार धामों में यह एक अन्यतम धाम है। ब्रह्मपुराण (५६ ६४-६६ तथा ६९-७०) के निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितने सार्थक हैं :

शैवभागवतानां च वादार्थप्रतिषेधकम्।
अस्मिन् क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले पुरुषोत्तमे ॥
शिवस्यायतन देव करोमि परम महत्।
प्रतिष्ठेय तथा तत्र तत्र स्थाने च शङ्करम् ॥
ततो ज्ञास्यन्ति लोकेऽस्मिन्नेकमूर्ती हरीश्वरौ।
प्रत्युवाच जगन्नाथ स पुनस्त महामुनिम् ॥

....

नावयोरन्तर किञ्चिदेकभावौ द्विधा कृतौ ॥
यो रुद्र स स्वय विष्णुर्यो विष्णु स महेश्वर ।

जगन्नाथ इस पावन धाम की कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं जो अन्यत्र नहीं। यहा पर छुआछूत का भेद बिलकुल नहीं। यहा का भात ही पावन प्रसाद है। सभी इसे निस्संकोच स्वीकार करते हैं। यह 'महाप्रासाद' सुखाकर लोग अपने अपने घर ले जाते हैं। यहा के

रथ-यात्रा सब महोत्सवों की शिरोमणि है। आषाढ़ शुक्ल द्वितीया में यह महोत्सव प्रारम्भ होता है। तीनों—कृष्ण, सुभद्रा और बलराम—के अपने अपने सलाञ्छन रथ चलते हैं जो यात्रियों के द्वारा खींचे जाते हैं। यह यात्रा मन्दिर से प्रारम्भ होती है और जगन्नाथ जी के ग्राम-निवास तक जाती है।

वाराणसी के सदृश जगन्नाथपुरी में भी पाच प्रधान तीर्थ हैं—मार्कण्डेय-सर, कृष्ण-वट, बलराम, समुद्र तथा इन्द्रद्युम्न-कुण्ड :

मार्कण्डेयं वटं कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम्।
इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थी विधिःस्मृतः॥ म० ६०. ११

जगन्नाथ के मन्दिरों पर आगे के पटल में समीक्षा होगी अतः इस धाम की इस पूर्वपीठिका से हम सन्तोष करें।

द्वादश-ज्योतिर्लिङ्गों—की भी प्राचीन पुण्य-परम्परा से हम परिचित ही हैं। शिवपुराण (१. १८. २१-२४) का प्रवचन है :

पृथिव्यां यानि लिङ्गानि तेषां सख्या न विद्यते।
सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारे परमेश्वरम्॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम्।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने।
सेतुबन्धे च रामेशं घुश्मेशं च शिवालये॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वसिद्धिफलं लभेत्॥

हिन्दू धर्म की विभिन्न अवान्तर शाखाओं एवं नाना सम्प्रदायों के अनुरूप इस देश में अगणित पावन क्षेत्र प्रकल्पित हैं। ५१ या १०८ शक्ति-पीठों की प्राचीन परम्परा (देखिये लेखक का 'प्रतिमा-विज्ञान'—इस अध्ययन का चतुर्थ ग्रन्थ) से हम परिचित ही हैं। 'बार्हस्पत्य सूत्र' (पृ० ११६-१२६) में वैष्णवों, शैवों एव शाक्तों के निम्न आठ आठ पावन क्षेत्रों का निर्देश है :

वैष्णव-क्षेत्र	शैव क्षेत्र	शाक्त-क्षेत्र
बदरिका	अविमुक्त	ओग्घीण
सालग्राम	गङ्गाद्वार	जाल
पुरुषोत्तम	शिवक्षेत्र	पूर्ण
द्वारका	रामेयमुना	काम
विन्ध्याचल	शिवसरस्वती	कोल्ल
अनन्त	मध्य	श्रीशैल
सिंह	शार्दूल	काञ्ची
श्रीरङ्ग	गज	महेन्द्र

टि०—इनमें बहुतों का भूगोल सम्भवतः समझ के बाहर है।

अस्तु, अगणित तीर्थों की तालिका* अब भी अवशेष है। अन्त में औपोद्घातिक उस महातथ्य का माहात्म्य स्मरणीय है कि भारतवर्ष का समस्त प्रदेश ही पावन है। तीर्थ-भूमि वास्तव में सत्य-भूमि, तपो-भूमि, अध्ययनाध्यापन-भूमि, यज्ञ भूमि—धर्म-भूमि है। पद्म पुराण (द्वि० ३६.५६–६१) का प्रवचन है: —"जहा अग्निहोत्र एन श्राद्ध की जाती है, जहा देवतायतन स्थित है, जिस घर में वेद-पाठ होता है, जहा गौवें रहतीं हैं, सोमपायी जहा निवास करते हैं, जिस स्थल पर अश्वत्थ उगा है, जहा पुराण का पारायण होता है, जहा अपना गुरु रहता है, जहा सती रहती है अथवा पिता और उसका लायक लड़का रहता है—वे सभी तीर्थ भूमिया हैं।"

परिशिष्ट

* तीर्थ-तालिका

अञ्जक (न०)	अग्निसत्यपद	अमरकहृद
अचला ,,	अग्निशिरस्	अमरकण्टक
अचलेश्वर	अग्नीशेश्वर	अमरकेश्वर (लि०)
अच्छोदा ,,	अग्नितीर्थ	आमर्दक (ज्यो०)
अच्छोदक	अहः	अमरेश
अचिर-वती	अहल्याहृद	अमरेश्वर
अच्युतस्थल	अहल्यातीर्थ	अम्बाजन्म
आदर्श	ऐलापत्र (नाग)	अम्बरीशेश्वर
आदिपाल (प०)	ऐरावती (न०)	अम्बिकातीर्थ
आदितीर्थ	अजविल (प०)	अम्बिकावन
आदित्याश्रम	अजतुङ्ग	अम्बु (न०)
आदित्यतीर्थ	अजेश्वर (लि०)	अमोहक
आदित्यायतन	अजिरवती (न०)	आम्रातकेश्वर
आदित्येश	आकाश	अशुमती
अगस्त्यपद	आकाशगङ्गा	आनन्द
अगस्त्यसर	आकाशलिङ्ग	आनन्दपुर
अगस्त्याश्रम	अक्रूर	अनन्त
अगस्त्यतीर्थ	अक्षवाल	अनन्तभवन
अगस्त्यवट	अक्षय्यकरण	अनन्तनाग
अगस्त्येश्वर	अक्षय्यवट	अनन्तशयन
अघोरेश्वर	अलाबुतीर्थ	अनन्ततीर्थ
अग्निधारा	अलकनन्दा	अनरक
अग्निकुण्ड	अलेश्वर	अनरकेश्वर
अग्निप्रभ	अलितीर्थ	अनाशक
अग्निपुर	आमलक	अनसूयालिङ्ग
अग्निसर	आमलकग्राम	अन्ध (नद)

अन्धकेश
अन्धोन
अङ्गभूत
अङ्गारकुण्ड
अङ्गारवाहिक
अङ्गारेश्वर
अङ्गारकेश्वर
अङ्गारेश
आङ्गिरस-तीर्थ
अङ्गिरसेश
अनितभा (न०)
अञ्जलिकाश्रम
अञ्जन (प०)
अञ्जसी (न०)
अङ्कोल
अङ्क शेश्वर
अन्नकूट
अन्तकेश्वर
अन्तर्वेदी
अन्तशिला (न०)
अन्तिकेश्वर
अनूपा (न०)
अन्यतःप्लक्ष (पु०)
आपाग (न०)
अपाप्रपतन (न०)
अपरनन्दा (न०)
आपस्तम्बतीर्थ
आपया (न०)
अपसरस-कुण्ड
अप्सरेश
अप्सरोयुगसङ्गम
अरन्तुक
अरविन्द (प०)
अर्बुद (प०)
अर्बुद-सरस्वती (न०)
आर्चिक-पर्वत
अर्धचन्द्र
अर्धकील
अर्घ्यतीर्थ
अरिष्टकुण्ड
आर्जीकीया (न०)
अर्जुन
अर्जुनीया (न०)
अर्कक्षेत्र
अर्कस्थल कुण्ड
आर्षभ
आर्ष्टिषेणाश्रम
अरुणासरस्वती सं०
अरुण (प०)
अरुणा (न०)
अरुणा-वरुणा स०
अरुन्धतीवट
अरुणीश
आर्यावर्त
आषाढ (लि०)
आषाढी-तीर्थ
आशालिङ्ग
असि
असिवनी (न०)
असिकुण्ड
असित (प०)
असिता (न०)
असितगिरि
अश्मन्वती (न०)
अश्मपृष्ठ
अशोकतीर्थ
अस्तमन
अष्टवक्र
अस्थिपुर
असुरीश्वर
अश्वमेध
अश्वशिरस
अश्वतीर्थ
अश्वरथतीर्थ
अश्विनी
अश्विनोस्तीर्थ
अश्वीश्वर
अटवीतीर्थ
अतिबल
आत्मतीर्थ
आत्रेयतीर्थ
अत्रि-आश्रम
अत्रीश्वर
अट्टहास
औद्दालकतीर्थ
औद्यानकतीर्थ
औजस
औपमन्यव
औसज
औशनस
औशीरपर्वत
अवधूत
अवकीर्ण
अवन्ती
अवटोदा (न०)
अविघ्नतीर्थ
अविमुक्त
अविमुक्तेश्वर
अयोध्या
अयोगसिद्धि
अयोनिसङ्गम
बभ्रुतीर्थ
बदरी
बदरिका
बदरिकाश्रम
बदरीवन
बदरीपाचनतीर्थ
बगला (देवी)
बाहुदा (न०)
बहुलवन
बहुनेत्र

बाह्या (न०)
बकुलासङ्गम
बकुलवन
बलभद्रलिङ्ग
बलाका
बलाकेश्वर
बालकेश्वर
बालपेन्द्र
बलेश्वर
बलिकुण्ड
बाणगङ्गा
बाणतीर्थ
बाणेश्वर-लिङ्ग
बाजुल
बार्हस्पत्यतीर्थ
भद्रा (न०)
भद्रदोह
भद्रकालेश्वर
भद्रकाली
भद्रकालीह्रद
भद्रकर्णह्रद
भद्रकर्णेश्वर
भद्रतीर्थ
भद्रतुङ्ग
भद्रवन
भद्रवट
भद्रावती (न०)
भद्रेश्वर
भगवत्पदी (न०)
भागीरथी
भैरव
भैरवेश्वर
भाण्डह्रद
भाण्डीर
भाण्डीरक
भद्रतीर्थ
भानुतीर्थ
भारभूतेश्वर
भारभूती
भरद्वाजाश्रम
भरद्वाजतीर्थ
भरतस्याश्रम
भरतेश
भार्गवेश
भर्तृस्थान
भारूण्डवन
भारूकच्छ
भस्मगात्रक
भस्मकूटाद्रि
भास्कर-क्षेत्र
भावतीर्थ
भेड़ादेवी
भेदगिरि
भिल्लतीर्थ
भीमा (न०)
भीमादेवी
भीमारथी
भीमस्वामिन
भीमतीर्थ
भीमाया.स्थानम्
भीमेश्वर
भीष्मचण्डिका
भोगवती
भृगु
भृगुकच्छ
भृगुकुण्ट
भृगुतीर्थ
भृगुतुङ्ग
बृहस्पतिकुण्ड
भृङ्गीश्वरलिङ्ग
भूमिचण्डेश्वर
भूमितीर्थ
भूतालयतीर्थ
भूतेश्वर
भुवनेश्वर
बिलपथ
बिल्वाचल
बिल्वक
बिल्वपत्रक
बिल्ववन
बिन्दुक
बिन्दुमाधव
बिन्दुसरस
बिन्दुतीर्थ
बोधितरू
ब्रह्मगिरि
ब्रह्मह्रद
ब्रह्मक्षेत्र
ब्रह्मकुण्ड
ब्रह्मनदी
ब्राह्मणकुण्डिका
ब्रह्मणस्तीर्थ
ब्राह्मणी (न०)
ब्राह्मणिका
ब्रह्मानुस्वर
ब्रह्मपद
ब्रह्मपुत्र
ब्रह्मसरस
ब्रह्मारण्य
ब्रह्मशीर्ष
ब्रह्मस्थान
ब्रह्मस्थूण
ब्रह्मतारेश्वर
ब्रह्मतीर्थ
ब्रह्मतुङ्ग
ब्रह्मतुण्डह्रद
ब्रह्मवल्लीतीर्थ
ब्रह्मवालुका
ब्रह्मावर्त
ब्रह्मयोनि
ब्रह्मयूप
ब्रह्मेश्वरलिङ्ग

ब्रह्मोदर
ब्रह्मोदय
ब्रह्मोद्भेद
ब्रह्मोदुम्बर
बृहद्वन
बुद्बुदा (न०)
बुधेश्वर
चैत्रक
चैत्ररथ (वन)
चक्र
चक्रधर
चक्रस्थित
चक्रस्वामिन
चक्रतीर्थ
चक्रवाक
चक्रावर्त
चक्रेश्वर
चक्षु
चक्षुस्तीर्थ
चमसा
चमत्कारपुर
चम्पा
चम्पकारण्य (चम्पारन)
चम्पकतीर्थ
चम्पकवन
चञ्चला (न०)
चण्डवेगा (न०)
चण्डवेगासम्भेद
चण्डेश
चण्डिकेश्वर
चन्द्रभागा
चन्द्रमस्तीर्थ
चन्द्रपाद
चन्द्रपुर
चन्द्रतीर्थ
चन्द्रवशा (न०)
चन्द्रवती (न०)

चन्द्रेश्वर
चन्द्रिका (न०)
चर्माख्य
चर्मण्वती (न०)
चर्मकोट
चतु.समुद्र (कूप)
चतु.सामुद्रिक ,,
चतुःस्रोत
चतुर्मुख
चतुर्थेश्वर
चतुर्वेदेश्वर
छागलाण्ड
छागलेश्वर
छायाक्षेत्र
छिन्नपापक्षेत्र
चिञ्चिकातीर्थ
चिदम्बर
चिन्ताङ्गदेश्वर
चिरमोचनतीर्थ
चिताभूमि
चित्रगुप्तेश्वर
चित्रकूट
चित्रकूटा (न०)
चित्राङ्गतीर्थ
चित्राङ्गवदन
चित्रेश्वर
चित्रोपला ,,
च्यवनाश्रम
च्यवनेश्वर
दधिक्षेत्र
दधीचेश्वर
दधिकर्णेश्वर
डाकिनी
दक्षप्रयाग
दक्षतीर्थ
दक्षेश्वर
दक्षिणगङ्गा

दक्षिण-गोकर्ण
दक्षिण-मानस
दक्षिण-मथुरा
दक्षिण-पञ्चनद
दक्षिण-प्रयाग
दक्षिण-सिन्धु
दाल्भ्याश्रम
दामिन्
दामोदरगङ्गा
दाष्ट्राङ्कुर
दण्ड
दण्डक
दण्डकारण्य
दण्डखाट
दण्डीश्वर
दुर्दुर
दारुवन
दार्वीसंक्रमण
दशकन्यातीर्थ
दशार्णा (न०)
दशाश्वमेधिक
दत्तात्रेयलिङ्ग
दौर्वासिक
देवदारुवन
देवागम
देवगिरि
देवह्रद
देवह्रदा (न०)
देवकूट (प०)
देवलेश्वर
देवपर्वत
देवपथ
देवप्रयाग
देवारण्य
देवशाल
देवतीर्थ
देवेश

[illegible]
धर्मनद
धर्मपृष्ठ
धर्मराजतीर्थ
धर्मारण्य
धर्मशास्त्रेश्वर
धर्मशिला
धर्मतीर्थ
धर्मावती „
धर्मेश्वर
धर्मोद्भव
धौतपाप
धौतपापा
धौतपापेश्वर (लिङ्ग)
धवलेश्वर
धेनुक
धेनुकारण्य
धेनुवर
ध्रुवतपोवन
धूमावती
धुण्ढिविनायक
धूतपाप
धूतपापा (न०)
धूतवाहिनी „
दिण्डिपुण्यक
दृषद्वती
द्रुमचण्डेश्वर
दुग्धेश्वर
दुर्धरेश्वर
दुर्गा
दुर्गाशाम्रमतीस०
दुर्गा (न०)
दुर्गातीर्थ
द्वादशादित्यकुण्ड
द्वारका
द्वारका कृष्णतीर्थ
द्वारावती
द्विदेवकुल
द्वीप
द्वीपेश्वर
एकधार
एकहंस
एकाम्रक
एकवीर
एलापुर (इलोरा)
एरण्डीनर्मदसंगम
एरण्डीतीर्थ
गभस्तीश
गम्भीरक
गणनाथ
गण्डकी
गङ्गा
गङ्गाद्वार
गन्धकाली
गन्धमादन
गन्धर्वकुण्ड
गन्धर्वनगर
गन्धर्वतीर्थ
गङ्गागण्डकीसङ्गम
गङ्गागोमतीसङ्गम
गङ्गाह्रद
गङ्गाकौशिकीसङ्गम
गङ्गामानुषसङ्गम
गङ्गावत्
गङ्गासागरसङ्गम
गङ्गासरस्वतीसङ्गम
गङ्गासरयूसंगम
गङ्गावदनसंगम
गङ्गावरुणसंगम
गङ्गेश्वर
गङ्गोद्भेद
गर्गस्रोतस
गर्गेश्वर

गार्हपत्यपद
गर्तेश्वर
गारुड़
गरुड़केश्वर
गौरी
गौरीश
गौरीशिखर
गौरीतीर्थ
गौतम
गौतमनाग
गौतमाश्रम
गौतमवन
गौतमेश्वर
गौतमी
गवामवन
गया
गयाकेदारक
गयानिष्क्रमण
गयाशिरस
गयाशीर्ष
गयातीर्थ
गायत्रीस्थान
गायत्रीश्वर
गायत्रीतीर्थ
घण्टाभरणक
घण्टाकर्णह्रद
घण्टेश्वर
घरघरा (न०)
घटेश्वर
घटोत्कच
घृतकुल्या
गिरिकर्णिका
गिरिकुञ्ज
गिरिकूट
गिरिनगर
गिरिव्रज
गोभिलेश्वर

गोचर्मेश्वर
गोदावरी
गोधन
गोग्रह
गोकामुक
गोकर्ण
गोकर्णह्रद
गोकर्णेश्वर
गोकुल
गोमण्डलेश्वर
गोमन्त
गोमती
गोमतीगङ्गासंगम
गोपाद्रि
गोनिष्क्रमण
गोपीश्वर
गोप्रचार
गोप्रतार
गोप्रेक्ष
गोप्रेक्षक
गोप्रेक्षकेश्वर
गोरक्ष
गोरथगिरि
गोतीर्थ
गोवर्धन
गोविन्दतीर्थ
गृध्रकूट
गृध्रवन
गृध्रवट
गृध्रेश्वरलिङ्ग
गुहेश्वर
गुरुकुल्यतीर्थ
हंसद्वार
हंसकुण्ड
हंसपद
हंसप्रपतन
हंसतीर्थ

हनुमततीर्थ
हारकुण्ड
हरमुकुट
हरमुण्ड
हरिद्वार
हरिहरक्षेत्र
हरिकेशेश्वर
हरिकेश्वर
हरिश्चन्द्र (ती०)
हरिश्चन्द्र (प०)
हरिश्चन्द्रेश्वर
हरिपर्वत
हारीततीर्थ
हारीतकीवन
हरितेश्वर
हरियूपीया (न०)
हरोद्भेद
हर्षपथा
हस्ततीर्थ
हस्तिनापुर
हस्तिपादेश्वर
हस्तिपालेश्वर
हाटक
हाटकेश्वर
हयमुक्ति
हयशीरस
हयतीर्थ
हेमकूट
हेतुकेश्वर
हिमालय
हिमवल (अरण्य
हिरण्यबाहु
हिरण्यविन्दु
हिरण्यद्वीप
हिरण्यगर्भ
हिरण्यकशिपलिङ्ग
हिरण्याक्ष

हिरण्याक्षेश्वर
हिरण्यसङ्गम
हिरण्यबाहु
हिरण्यवती
ह्लादिनी
होमवती
हृषीकेश
इक्षु
इक्षुमती
इक्षु (नर्मदा सङ्गम)
इक्षुदा (नं०)
इलासपद
इलातीर्थ
इल्वलपुर
इन्दिरा (न०)
इन्द्रध्वज
इन्द्रद्युम्नसरस
इन्द्रद्युम्नेश्वर
इन्द्रग्रामतीर्थ
इन्द्रकीला
इन्द्रलोक
इन्द्रमार्ग
इन्द्रनदी
इन्द्राणीतीर्थ
इन्द्रप्रस्थ
इन्द्रतीर्थ
इन्द्रतोया (न०)
इन्द्रेश्वर
इरावती (रावी०)
इरावती (नड्वलासंगम)
ईशानाध्युषित
ईशानलिङ्ग
ईशानशिखर
ईशतीर्थ
जगन्नाथ
जाह्नवी
जानह्रद

जयगीषव्यगुहा
जयगीषव्येश्वर
जाल
जलविन्दु
जालन्धर
जालेश्वर
जलपिशा
जामदग्न्यतीर्थ
जम्बीरचम्पक
जम्बुकेश्वर
जम्बुला
जम्बूमार्ग
जम्बूनदी
जनककूप
जनकेश्वर
जनस्थान
जनेश्वर
जन्मेश्वर
जाप्येश्वर
जरासन्धेश्वर
जटाकुण्ड
जातिस्मरह्रद
जयन्त
जयन्तिका
जयपुर
जयातीर्थ
जयवन
जयिनी
ज्येष्ठिला
ज्ञानतीर्थ
ज्ञानवापी
ज्वालामुखी
ज्वालासरस
ज्वालेश्वर
ज्येष्ठेश्वर
ज्येष्ठपुष्कर
ज्येष्ठस्थान

ज्योतिरथ्या
ज्योतिष्मती
ज्योत्सना
कण्वलिङ्ग
कडलीनदी
कदम्ब
कदम्बखण्ड
कदम्बेश्वर
काद्रवती
कैलापुर
कैलासशिखर
काकाह्रद
काकाशिला
काकुभ
ककुदमती (न०)
कालभैरव
कालकवन
कालकेश्वर
कालकोट
कसङ्कर
कालिञ्जर
कलञ्जरवन
कलपग्राम
कलापक
कलापवन
कलशाख्यतीर्थ
कालसर्पिस
कलशेश्वर
कालतीर्थ
कालविक
कालविमल
कालेश
कालेश्वर
कालीह्रद
काली
कालिका
कालिकासंगम

कालिकाशिखर
कालिकाश्रम
कालिन्दी
कालीयह्रद
कल्लोरेश्वर
कलमाषी
कालोदक (पु०)
कालोदका (न०)
कल्पग्राम
काम
कामधेनुपद
कामगिरि
कामाख्य
कामकोष्ठक
कामाक्षा
कामाक्षी
कमलाक्ष
कमलालय
कामतीर्थ
कम्बलाश्वतरौ नागौ
कम्बलाश्वतराख्य
कम्बोतिकेश्वर
कम्बुतीर्थ
कामेश्वरलिङ्ग
कामेश्वरपीठ
कामिक
कामोदापुर
कम्पना (न०)
काम्यकाश्रम
काम्यकसरस
काम्यकवन
कणादेश्वर
कनका (न०)
कनक
कनकनन्दा (न०)
कनकवाहिनी (न०)
कनकेश्वर
कनखल
काञ्चनाक्षी (न०)
काञ्ची
कान्तीपुरी
कण्वाश्रम
कन्या
कन्याह्रद
कान्यकुब्ज
कन्याकूप
कन्यासम्वेद्य
कन्याश्रम
कन्यातीर्थ
कपालमोचनतीर्थ
कपालेश्वर
कपर्दीश्वर
कपटेश्वर
कापिल
कपिला
कपिलाधारा
कापिलद्वीप
कपिलह्रद
कपिलनागराज
कपिलासङ्गम
कपिलतीर्थ
कपिलातीर्थ
कपिलवट
कपिलेशलिङ्ग
कपिलेश्वरलिङ्ग
कपिशा
कापिशी (न०)
कपोत
कापोतकतीर्थ
कपोतेश्वर
करहाटक
कारन्धम
करञ्जतीर्थ
कारन्तुक
करपाद
करूपवन
करतोया
कारवती
करवीरा
करवीरक तीर्थ
कर्दमाल
कर्दमाश्रम
कर्दमिल
कर्कन्ध
कर्कोटकेश्वर
कर्मावरोहण
कर्मेश्वर
कर्णह्रद
कर्णप्रयाग
कार्तिकेय
कार्तिकेयकुण्ड
कार्तिकेयपद
काशी
काश्मीरमण्डल *
काश्यपपद
काश्यपतीर्थ
काश्यपेश्वर
कठेश्वर
कात्यायनेश्वर
कौवेर
कौवेरतीर्थ
कौमारतीर्थ

---

* टि०—अबुलफजल ने अपनी 'आइने अकबरी' में लिखा है कि उनके समय में काश्मीर में ४५ शिवालय, ६४ विष्णु प्रासाद, ३ ब्रह्मायतन, २२ दुर्गामन्दिर थे और ७०० स्थानों पर सर्प नाग-प्रतिमायें थीं जिनकी भी पूजा-परम्परा पूर्णरूप से प्रचलित थी।

कौनट
कौण्डिन्यसरस
कौशाम्बी
कौशिकह्रद
कौशिकी (न०)
कौ० कोकासङ्गम
कौशिकी स०
कौशिकीतीर्थ
कौशिक्यारुणी सं०
कौस्तुभेश्वर
कावेरी
कावेरीसङ्गम
कायशोधन
कायावरोहण
केदार
केशव
केशिनीतीर्थ
केशीतीर्थ
केतकीवन
केतुमाला
खड्गधारातीर्थ
खड्गपुच्छनाग
खड्गतीर्थ
खदिरवन
खण्डतीर्थ
खाण्डववन
खाण्डवप्रस्थ
खट्वाङ्गेश्वर
खोनमुष
किल्किलेश
किंदत्तकूप
किंशुकवन
किंशुलूक (०)
किंजप
किंदान
किंकिणीकाश्रम
किरणा (न०)
किरणेश्वरलिङ्ग
किष्किन्धा
किष्किन्धागुहा
किष्किन्धपर्वत
कोका (न०)
कोकामुख
कोकिल
कोलाहल
कोलापुर
कोल्ल
कोल्लगिरि
काणोक
कोशला (न०)
कोटरातीर्थ
कोटरावन
कोटिकेश्वर
कोटीश्वर
कोटीतीर्थ
कोटिवट
क्रमसार (पु०)
क्रतुतीर्थ
क्रौञ्चपाद
क्रौञ्चपदी
क्रौञ्चपर्वत
क्रौञ्चारण्य
क्रिया (न०)
कृकलासतीर्थ
कृमिचण्डेश्वर
कृपा (न०)
कृपाणीतीर्थ
कृष्णा
कृष्णगङ्गा
कृष्णगङ्गोद्भवतीर्थ
कृष्णगिरि
कृष्णतीर्थ
कृष्णावेणा
कृष्णावेण्या
कृष्णवेनी
कृतमाला (न०)
कृतशौच
कृत्तिकाङ्गारक
कृत्तिकाश्रम
कृत्तिकातीर्थ
कृत्तिवास
कृत्तिवासेश्वरलिङ्ग
क्रुमु (न०)
क्षमा ,,
क्षेमेश्वर
क्षिप्रा (न०)
क्षीरवती ,,
क्षीरिका
क्षुधातीर्थ
कुवेरतुङ्ग
कुभा
कुब्जक
कुब्जाम्रक
कुब्जासंगम
कुब्जाश्रम
कुब्जावन
कुब्जकापीठ
कुड्मला
कुहू
कुक्कुटेश्वर
कुलम्पुन
कुलेश्वर
कुलिशी (न०)
कुल्या (न०)
कुमार
कुमारधारा
कुमारकोटी
कुमारतीर्थ
कुमारेश्वरलिङ्ग
कुमारी
कुमारिल

महामरस
महास्थल
महाश्रम
महाशोण
महत्कुण्ड
महती
महावन
महातीर्थ
महावेणा
महेन्द्र
माहेश्वरपुर
माहेश्वर
महेश्वरधारा
महेश्वरकुण्ड
मही
महीसागर-सङ्गम
माहीतीर्थ
माहिष्मती
महोदय
मैनाक (प०)
मैत्रेयीलिङ्ग
मञ्जुणा (न०)
माला (न०)
मलद
मलन्दरा (न०)
मलप्रहारिणी (न०)
(मलापहारिणी)
मलापहा (न०)
मालार्क
मलय (प०)
मलयज
मलयार्जुनक
मालिनी (न०)
मल्लक
मल्लिकाख्य
मल्लिकार्जुनक
मल्लिकेश्वर
माल्यवत
माल्यवती
मानस
मन्दगा (न०)
मन्दाकिनी (न०)
मन्डलेश्वर
मन्दर (प०)
मन्दार
मण्डवा
मन्दवाहिनी
माण्डव्य
माण्डव्येश
मण्डोदरीतीर्थ
मगला
मंगलाप्रस्थ
मगलासङ्गम
मङ्गलेश्वर
मणिकर्णी (मणिकर्णिका)
मणिकर्णिकेश्वर
मणिकुण्ड
माणिक्येश्वर
मणिमत
मणिमती
मणिमतीह्रद
मणिमतीपुरी
मणिनाग
मणिपुरगिरि
मञ्जुला
मकुणिका
मकुटी
मनोहर
मनोजव
मन्वेश्वर
मनुजेश्वर
मनुलिङ्ग
मानुप
मन्युतीर्थ
मारीचेश्वर
मार्जार
मार्कण्डेयह्रद
मार्कण्डेयतीर्थ
मार्कण्डेयेश्वर
मर्कटीतीर्थ
मारखण्ड
मारतखण्डपादमूल
मरुद्गण
मरुद्वृधा
मरुस्थल, मारुतालय
मातेश्वर, मातलीश्वर
मातङ्गनेत्र
मतङ्गपद
मतंगस्याश्रम
मतङ्गस्य-केदार
मतङ्गवापी
मतंगेश
मतंगेश्वर
माठरवन
मथुरा
मातृ
मातृगृह
मातृतीर्थ
मत्स्यनदी
मत्स्यशिला
मत्स्योदपान
मत्स्योदरी
मायापुरी
मायातीर्थ
मेधातिथि (न०)
मेधावन, मेधाविक
मेघकर
मेघनाद
मेघङ्कर
मेघगाम
मेहन्तु (न०)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] (न०)
निषध
निषधा
निशाकारलिङ्ग
निश्चीरा
निष्फलेश
निष्ठासंगम
निष्ठावास
निष्ठीवी
निवासलिंग
नूपा
ओघवती
ओजस
ओंकार
ओंकारेश्वर
पद्मावती
पैशाचतीर्थ
पितामहतीर्थ
पालमञ्जर
पालपञ्जर
पल शक
पलाशिनी
पालेश्वर
पम्पा (न०)
पम्पा (कुम०)
पम्पासरस
पम्पातीर्थ
पञ्चब्रह्म

[illegible]
[illegible] [illegible]केश्वर
[illegible]
[illegible]तीर्थ
[illegible]
प[illegible]दाश्वर
पञ्चपिण्ड
पञ्चप्रयाग
पञ्चाप्सरसतीर्थ
पञ्चारूणक्षेत्र
पञ्चसरस
पञ्चशिखा
पञ्चशिखेश्वर
पञ्चशिर
पञ्चाश्वमेधिक
पञ्चतप
पञ्चतीर्थ
पञ्चतीर्थकुण्ड
पञ्चवन
पञ्चवट
पञ्चवटी
पञ्चयज्ञा
पञ्चायतन
पण्डारकवन
पाण्डवेश्वरक
पाण्डुकूप
पाण्डुपुर
पाण्डुक
पाण्डीसह्य
पाण्डुविशालातीर्थ
पाणिख्यात
पङ्कजवन
पापमोक्ष
पापप्रमोचन
पापप्रणाशन
पापसूदनतीर्थ
पारा

पारिहारापुर
पाराशरेश्वरलिङ्ग
पारिपल्व
पारियात्र
पर्णाशा, पर्जन्येश्वर
परूष्णी
परुष्णीसंगम
पर्वताख्य
पर्वतेश्वर
पार्वतिक
पाशा
पाषाणतीर्थ
पाशिणी
पाशुपततीर्थ
पाशुपतेश्वर
पशुपतीश्वर
पाटला
पातन्धम
पतनितीर्थ
पथीश्वर
पत्रेश्वर
पौलस्त्यतीर्थ
पौलोम
पौण्डरीक
पौण्ड्र
पौण्ड्रवर्धन
पौष्क
पवनस्यहृद्
पावनी
पयस्विनी
पयोदा
पयोष्णी
पयोष्णीसंगम
फलकीवन
फल्गु
फाल्गुन
फाल्गुनक

फाल्गुनेश्वर
फेना (न०)
फेनासंगम
पिण्डारक
पिङ्गायाः आश्रम
पिङ्गातीर्थ
पिङ्गलेश्वर
पिप्पला
पिप्पलादतीर्थ
पिप्पलतीर्थ
पिप्पलेश
पिप्पली (न०)
पिशाचेश्वर
पिशाचमोचनकुण्ड
पिशाचमोचनतीर्थ
पिशाचिका
पितामहसरस
पितामहतीर्थ
पीठानि (५१)
प्लक्ष
प्लक्षप्रस्रवण
प्लक्षतीर्थ
प्लक्षावतरण
प्रभास
प्राचीसरस्वती
प्रद्युम्नगिरि
प्रद्युम्नतीर्थ
प्रहसितेश्वर
प्रह्लादेश्वर
प्रजामुख
प्रजापतिक्षेत्र
प्राजापत्य
प्रणीता
प्रान्तरूपानीय
प्रापण
प्रश्रवणगिरि
प्रतीची
प्रतिष्ठान
प्रवरा
प्रवरपुर
प्रवरासंगम
प्रयाग
प्रयागेश्वर
प्रेतकुण्ड
प्रेतकूट
प्रेतपर्वत
प्रेतशिला
प्रीतिकेश्वर
प्रियमेलक
प्रियवर्तेश्वरलिङ्ग
पृथिवीतीर्थ
पृथूदक
पृथुतुङ्ग
पुलहाश्रम
पुलस्त्यपुलहाश्रम
पुलस्त्येश्वर
पुनःपुना (न०)
पुनरावर्तनन्दा (न०)
पुण्डरीक
पुण्डरीका (न०)
पुण्डरीकक्षेत्र
पुण्डरीकमहातीर्थ
पुण्डरीकपुर
पुण्यस्थल
पुराणेश्वर
पूर्ण
पूर्णमुख
पूर्णतीर्थ
पुरू
पुरुर्वसतीर्थ
पुरुषोत्तम
पूर्वामुख
पुष्कर
पुष्करारण्य
पुष्करावती (न०)
पुष्करिणी
पुष्पभद्रा (न०)
पुष्पगिरि
पुष्पजा (न०)
पुष्पदन्तेश्वर
पुष्पस्थल
पुष्पवहा (न०)
पुष्पवती (न०)
पुत्रतीर्थ
राधाकुण्ड
राघवेश्वर
रैवतक
राजगृह
राजखङ्ग
राजावास
राजेश्वर
रामाधिवास
रामगिर्याश्रम
रामगृह
रामह्रद
रामजन्म
रामलिङ्ग
रामसरस
रामतीर्थ
रम्भालिङ्ग
रम्भेश्वरलिङ्ग
रामेश्वर
रत्नेश्वरलिङ्ग
रन्तुक
रन्तुकाश्रम
रसा (न०)
रथचैत्रक
रथस्पा (न०)
रावणेश्वरतीर्थ
रविस्तव
रेणुकास्थान

रेणुकाष्टक
रेणुकातीर्थ
रेतोदक
रेवा
रेवन्तेश्वर
रेवतीसङ्गम
ऋक्ष, ऋक्षवत्
ऋणमोचन
ऋणमोक्ष
ऋणान्तकूप
ऋणतीर्थ
रोधस्वती (न०)
रोहितक (प०)
ऋषभ
ऋषभा (न०)
ऋषभद्वीप
ऋषभतीर्थ
ऋषभाञ्जकतीर्थ
(उषातीर्थ)
ऋषीका (न०)
ऋषिकन्या (न०)
ऋषिकुल्या (न०)
ऋषिसंघेश्वर
ऋषिमत्र
ऋष्यमूक
ऋषितीर्थ
ऋष्यभृङ्गेश्वर
ऋष्यवन्त (प०)
रुचिकेश्वरक
रुद्रगया
रुद्रकन्या
रुद्रकर
रुद्रकर्ण
रुद्रकर्णह्रद
रुद्रकोटि
रुद्रमहालय
रूद्रपद
रूद्रप्रयाग
रूद्रावर्त
रूद्रवास
रुक्मिणीकुण्ड
रूपधारा
रूरूखण्ड
शवरीतीर्थ
शाभ्रमती
(साबरमती)
शाभ्रमतीसङ्गम
शचीश्वरलिंग
षडगुल
सदानीरा (न०)
सगरेश्वर
साहस्रकतीर्थ
सहस्राक्ष
सहस्रकुण्ड
सह्याद्रि
सह्यामलक
सह्यारण्य
शैलेश्वर
शैलेश्वराश्रम
शैलोद
शैलोदा
सैन्धवारण्य
शाकम्भरी (पु०)
साकेत
शक्रकुण्ड
शक्रसरस
शक्रतीर्थ
शक्रावर्त
शक्रेश्वर
शालग्राम
शालिग्राम
शालग्रामगिरि
शालिसूर्य
शालूकिनी
शाल्विकिनी
सामलनाथ
समङ्गा (न०)
समन्तपञ्चक
समस्रोत
साम्बपुर
सम्भलग्राम
सम्मूर्तिक
सम्पीठक
ससारमोचन
सामुद्रक
समुद्रकूप, समुद्रतीर्थ
समुद्रेश्वर
सम्वर्तक
सम्वर्तवापी
सम्वर्तेश्वर
सम्विद्यतीर्थ
संयमन
शनैश्चरेश्वर
सनक
सनकेश्वर
सनन्देश्वर
सानन्दूर
सनत्कुमारेश्वर
सन्ध्या
सन्ध्यावट
शाण्डिली (न०)
शा-मधुमती-स०
शाण्डिल्येश्वर
सङ्गमन
सङ्गमनगर
सङ्गमेश्वर
शंखह्रद
शंखलिखितेश्वर

इष्टापूर्तौ द्विजतीनां धर्मः सामान्य इष्यते।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके॥

इस अवतरण से जहाँ पर पूर्त-धर्म की सामान्य संस्था पर प्रकाश पड़ता है वहाँ इष्ट-धर्म वैदिक है एवं पूर्त-धर्म पौराणिक—यह भी परिपुष्ट होता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि पौराणिक पूर्त-धर्म में 'देवतायनों' का निर्माण प्रमुख स्थान रखता था।

पूर्त-धर्म की परम्परा अपेक्षाकृत अर्वाचीन नहीं समझनी चाहिये। जिस प्रकार पुराणों की परम्परा को अपेक्षाकृत नवीन समझना भ्रामक है। पुराण (पुराना इतिहास) भला अर्वाचीन अर्थात् नवीन या आधुनिक कैसे हो सकता है? उसी प्रकार हमें पूर्त-धर्म को नवीन संस्था नहीं समझनी चाहिये। वैदिक-वाङ्मय से उद्धृत ऊपरी अवतरण इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अब प्रश्न यह है कि तथा-कथित पौराणिक पूर्त-धर्म कहाँ तक जाता है? कल्प-सूत्रों के मर्मज्ञ विद्वानों से अविदित नहीं कि उनमें श्रौत-सूत्रों के अतिरिक्त धर्म-सूत्रों एवं गृह्य सूत्रों का भी समावेश है। धर्म-सूत्रों एवं गृह्य सूत्रों में दानादि महात्म्य के साथ-साथ प्रतिष्ठा (देवतायतन-निर्माण एवं मूर्ति-प्रतिष्ठा—Foundation of Temples) एवं उत्सर्ग (वापीकूपतडागारामादि का परोपकारार्थ निर्माण—dedication of wells, tanks, parks etc for the benefit of the public) की परम्परा पर पूर्ण प्रवचन हैं।

जैमिनि-सूत्रों (१. ३. २) की व्याख्या करते हुये शबरस्वामि का भाष्य इस पुरातन परम्परा को वैदिकी संस्था के रूप में परिकल्पित करता है जहाँ पर प्रतिष्ठोत्सर्ग के स्मृति-नियमों में वैदिक पृष्ठ-भूमि प्रतिष्ठित है। शबर ने ऋग्वेद की 'धन्वन्निव प्रपा'—१०. ४. १ तथा 'भोजस्येद पुष्करिणीव'—१०. १०७. १० आदि का उल्लेख किया है। विष्णु-धर्म-सूत्र (अ० ६१. १–२) ने कूप एवं तडाग निर्माण की जो प्रशंसा की है वह उसमें पाप प्रक्षालन एवं स्वर्गारोहण दोनों ही लभ्य हैं।

शा० गृ० सू० (५. २) में प्रतिष्ठोत्सर्ग की पद्धति पर सर्वप्राचीन प्रवचन हैं। आश्व० गृ० सू० (४. ६) तथा पा० गृ० सू० परिशिष्ट में भी एतत्सम्बन्धी विवरण भरे पड़े हैं। पा० परिशिष्ट का निम्न प्रवचन कितना प्रामाणिक है —

'अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनानां प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्यामस्तत्रोदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुणं यवमयं चरुं श्रपयित्वा-ज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने इमं मे वरुण तत्त्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरुं हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमसीरनोऽश्मिमिति दशार्चं हुत्वा स्थाली-पाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्टये स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्तं स्विष्ट-कृत्प्रशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वालकृत्य गां तारयित्वा पुरुषसूक्तं जपन्नाचार्याय वरं दत्वा कर्णवेष्टकौ वासांसि धेनुर्दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम्। पार० गृ० परिशिष्ट।'

अस्तु, सूत्र-ग्रन्थों के इसी प्राचीन स्थान से प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग की महानदी वह निकली जो पुराणों के सागर में मिली। पुराणों में इस पद्धति पर वृहत् विजृम्भण हुआ। अग्नि-पुराण (अ० ६४), मत्स्य (अ० ५८) आदि में ये विवरण द्रष्टव्य हैं। तन्त्रों एवं आगमों की भी यही गाथा है। पञ्चरात्र आदि तन्त्र-ग्रन्थ एवं कामिकादि आगम ग्रन्थ सभी

में यह विकास पराकाष्ठा तक पहुँच गया। कालान्तर पाकर अर्वाचीन समय में प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें अपरार्क, हेमाद्रि, दानक्रिया-कौमुदी, रघुनन्दन का जलाशयोत्सर्ग-तत्व, नीलकण्ठ के प्रतिष्ठा मयूख तथा उत्सर्ग-मयूख आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

वैसे तो प्रतिष्ठा से तात्पर्य धर्मार्थ-समर्पण (dedicating to the public use) है, परन्तु प्राचीन धर्म-शास्त्रों के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिये—प्रतिष्ठापन सविधोत्सर्जनमित्यर्थः—दानक्रिया-कौमुदी।

प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अंग क्रमशः हैं—संकल्प, होम, दान तथा दक्षिणा एवं भोजन। उत्सर्ग एवं दान में थोड़ा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु दान व्यक्तिगत है। अतः उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्वभूतों के लिये होता है अतः उत्स्रष्टा (दाता) भी तो उन भूतों में एक है अतः वह भी समानरूप से उसके भोग का अधिकारी है। देवतायतन, वापी, कूप, तडागादि को उत्सर्ग कर देने पर भी उत्स्रष्टा (दाता) इनके भोग का अधिकारी है।

प्रतिष्ठोत्सर्ग की श्रौत-स्मार्त (पौराणिक भी) संस्था पर महाकवि बाणभट्ट का निम्न निर्देश कितना सुसंगत है जहाँ पर स्मार्त-धर्म प्रतिष्ठोत्सर्ग पर अवलम्बमान दृष्टिगोचर होता है (देखिये कादम्बरी, उज्जयिनी-वर्णन)—'स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथकूपप्रपाराम-सुरसदनसेतुय-त्रप्रवर्तकेन'।

कालिका-पुराण में तो पूर्त-धर्म (प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग) को इष्ट-धर्म से भी ऊँचा माना गया है:

इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसंमतौ
प्रतिष्ठाप्य तयोः पूर्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम्
भुक्ति-मुक्ति प्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्।

अर्थात् इष्ट एवं पूर्त दोनों ही शिष्टसम्मत धर्म हैं। 'पूर्त' से वापी, कूप, तडाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एवं इष्ट से यज्ञ-कर्म। इनमें इष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु 'पूर्त' तो भुक्ति एवं मुक्ति दोनों का ही साधन है। अत. इसी महा-भावना से पूर्त-धर्म के परिपाक में देवतायतन-निर्माण एक वृहद्‌निवेश है जिसमें प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नहीं है वरन् उससे सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरा सन्निविष्ट हुये—जैसे आराम (पुष्प एवं फलवृक्षों का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अंग)—वापीकूपतडागादि।

सूत्र-कारों ने यद्यपि प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग में केवल कूपादि जलाशयों का ही प्रतिपादन किया है परन्तु जलाशयोत्सर्ग में पादपारोपण का पृथुल प्रविवेचन है। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एवं वृक्ष-माहात्म्य एक अभिन्न अंग है। यागादि में वृक्षों के बहुल प्रयोग (यूप, समिधा, यज्ञ-पात्र—स्रुवा, जुहू) से हम परिचित ही हैं। वृक्षों की वन्दनवार प्रायः सभी संस्कारों एवं समारोहों की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-पत्र, वृक्ष-पुष्प एवं वृक्ष-फल के बिना क्या कोई कभी भी कर्म-काण्ड सम्पन्न हुआ है? (दे० हेमाद्रि—

व्रतखण्ड—अश्वत्थोदम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवा. पंचाङ्गाः इति प्रोक्ताः सर्वकर्मसु शोभनाः—जिस स्थान पर कूपादि जलाशयो की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उत्सर्ग होता वहाँ वृक्षारोपण (विशेषकर बडे-बडे वनस्पतियों—न्यग्रोध—पिप्पल आदि) अनिवार्य समझा जाता था। इस उष्ण-प्रधान देश में कोई भी जन-स्थान (public-place) बिना वृक्षों की छाया कैसे रह सकता था? अथच वृक्ष-पूजा का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा। महाभाष्यकार पतञ्जलि के उस सुदूर समय में भी 'आम्राश्च सिक्ता. पितरश्च प्रीणिता.' का विश्वास प्रतिष्ठित था। महाभारत में वृक्षारोपण बड़ा प्रशस्त माना गया है विशेषकर तडाग के तट पर:—

वृक्षद पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मत. स्मृताः
(अनु० प० ५८ ३०–३१)

विष्णु-धर्म-सूत्र (६१. ४) का भी यही समर्थन है:

'वृक्षारोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति।'

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुराणों की पुण्य-भूमि पर और भी निखर उठा (दे० पद्म-पुराण), जहाँ वृक्षारोपण, देवालय-निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एवं यागादि कर्म-काण्ड इष्ट-धर्म के समान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है।

अस्तु, वृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहाँ पर संकेत करने का अभिप्राय पाठकों का उस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का है जहाँ पर देवतायन—मन्दिर-निवेश की पद्धति में वृक्ष एक अभिन्न अंग थे। मत्स्यपुराण (दे० अ० २७० २८–२९) में स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्वदिशा में फल-वृक्ष, पश्चिम में कमलाकर तथा उत्तर मे पुष्प वृक्षों के साथ-साथ सालादि-तालादि वृक्ष भी आरोपित हों। प्राचीन धर्म शास्त्रों मे वृक्षों की रक्षा पर बडे कठोर शासन का अनुशासन है (दे० विष्णु-धर्म सूत्र ५ ५५ ५६)। अत. स्पष्ट है किसी भी प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग मे वृक्षारोपण एव वृक्षों की रक्षा अनिवार्य अंग हैं।

इस अत्यन्त संक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सके कि पूर्त-धर्म के प्रधान अङ्गों में केवल जलाशय (वापी, कूप, तड़ाग) एवं आराम की प्रतिष्ठा एवं उनके उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थो मे सामग्री है। जहाँ तक मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर में प्रतिमा प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिकी व्यवस्था (सूत्र-ग्रन्थ जिसके अभिन्न अंग हैं) नहीं। वह तो स्मार्त एव पौराणिक संस्था है, परन्तु देवालय-प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है—मत्स्यपुराण का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक है.—

एवमेव पुराणेपु तडागविधिरुच्यते,
कूपवापीषु सर्वासु तथा पुष्करिणीपु च।
एप एव विधिर्दृष्ट प्रतिष्ठासु तथैव च,
मन्त्रतस्तु विशेप. स्यात् प्रासादोद्यानभूमिपु॥
म पु. ५८ ५०-५२

अर्थात् जो विधि तड़ागादि जलाशयों की प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में प्रचलित है वही उद्यानादि पर एवं प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझनी चाहिये—विशेष यह कि मंत्रों के प्रयोग में थोड़ी सी हेर फेर अवश्य रहे।

पौराणिक प्रासाद-प्रतिष्ठा (Foundation of temples) तथा देवता-प्रतिष्ठा (Consecration of an image in the temple) पर विस्तृत विवरण प्रायः सर्वत्र प्राप्त होते हैं। देवता प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेष-रूप से लिखेंगे। मठ प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है। सत्य तो यह है कि मठ एवं मन्दिर एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। आदि शंकराचार्य के जगत्प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं—बदरिकाश्रम में मठ भी है और मन्दिर भी। इसी प्रकार पुरी में जगन्नाथ जी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एवं मठ दोनों से हम परिचित ही हैं। द्वारकापुरी, रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है। अस्तु, यहाँ पर इस दिशा में विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद-निर्माण के प्रयोजन पर थोड़ा सा और संकेत आवश्यक है।

वाराही 'बृहत्संहिता' यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है परन्तु वास्तव में उसे अर्ध-पुराण समझना चाहिये। बृहत्संहिता का प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर निम्न प्रवचन पठनीय है—

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान्विनिवेश्य च।
देवातयम कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये॥
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते॥
अ० ५६. १–२

अर्थात् जिस भूमि पर प्रभूत जलराशि के साधन सम्पन्न हैं और जहाँ पर पुष्पवृक्षों एवं फलवृक्षों के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं एव सुनिविष्ट हैं वहाँ पर यश एव धर्म की वृद्धि करने वाले यजमान (प्रासाद-प्रतिष्ठापक) को देवतायन का निर्माण कराना चाहिये। इष्टापूर्त से जिन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं उन स्वर्गादि-लोकों की प्राप्ति का अभिलाषी यजमान देवालय-निर्माण करावे। क्योंकि देवालय-निर्माण से इष्ट (यज्ञादिजन्य स्वर्ग-प्राप्ति) एवं पूर्त (धर्मार्थ-साधन) दोनों ही एकत्र प्राप्त होते हैं।

इस प्रवचन से प्रासादों के उदय के अन्तर्तम में पौराणिक पूर्त धर्म के मर्म को पाठक भलीभाँति हृदयङ्गम कर सके होंगे। 'स्वर्गकामो यजेत्' वैदिकी परम्परा के स्थान पर 'स्वर्गकामो मन्दिरं कारयेत्', सर्वथा सिद्ध हो गया। प्रासाद-कारक (मन्दिर का निर्माण कराने वाला धर्मार्थी व्यक्ति) यजमान के नाम से ही पुकारा गया है। 'स्थपति एवं स्थापक' के वास्तु-शास्त्रीय सम्बन्ध में प्रासाद-कर्ता स्थपति प्रासाद-कारक यजमान का प्रतिनिधित्व करता है। अतः वह सब फल, जो प्रासाद-निर्माण से प्राप्त होते हैं, वे उसे (यजमान को) मिल जाते है। 'बृहत्संहिता के' के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार उत्पल ने काश्यप के प्रामाण्य (authority) पर प्रसाद-कारक यजमान का स्वर्ग-निवास नित्य माना है और यह नित्य स्वर्ग, मन्दिर की दृढ़ता से पुष्ट होता है—जो मन्दिर जितना ही पक्का एवं चिरस्थायी है वह उतना ही अपने निर्माता यजमान के स्वर्ग का विधायक भी। 'महानिर्वाण तन्त्र' त्रयोदश २४, २५ इसी प्राचीन मर्म के उद्घाटन मे निर्देश करता है कि काष्ठादि से

विनिर्मित छन्न-प्रासाद (thatched temples) की अपेक्षा इष्टिकाओं से विनिर्मित प्रासाद (brick temples) शतगुण पुण्य प्रदान करते हैं परन्तु पाषाण से बनवाये गये प्रासाद (stone temples) तो इष्टिका प्रासाद से सहस्रगुण फलदायक होते हैं।

प्रासाद-कार्य यज्ञ-कार्य के समान ही धार्मिक कार्य है—यह हम कई बार कह चुके हैं, सत्य तो यह है कि हिन्दू-दृष्टि से कोई भी वास्तु-कार्य यज्ञ कार्य के समान पुनीत एवं स्वर्गकारक है। प्राचीन काल मे लोगों का विश्वास था कि मन्दिर-निर्माण से पुण्य-लाभ होता है—दे० मिहिरगुल का ग्वालियर पाषाण-शिला-लेख। अग्निपुराण (दे० अ० ३८. १०-११ तथा २५-२६) का भी यही पोषण है।

'शैवागम-निबन्धन' भी इसी तथ्य का समर्थन करता है:—

ये वै शिवालयं भक्त्या शुभ कारयतीप्सितम्।
त्रिसप्तपुरुषाल्लोक शम्भोर्नयति स ध्रुवम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महादेवस्य मन्दिरम्।
सर्वैरवश्य कर्तव्यं आत्माभ्युदयकांक्षिभि.॥

'यमसंहिता' का भी ऐसा ही साहित्य है:—

कृत्वा देवालय सर्वं प्रतिष्ठाप्य च देवताम्।
विधाय विधिवच्चित्रं तल्लोक विन्दते ध्रुवम्॥

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दे० १३. २४०-४४) में 'प्रासाद-स्तवन' बड़ा ही मार्मिक है।

अस्तु, प्राचीन इस महाविश्वास का जन-समाज में इतना प्रचार था कि वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रासाद-वास्तु के विवेचानावसर ये ग्रन्थ पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थो के सदृश देवतायतन-निर्माण-जन्म-पुण्य पर प्रबल एवं प्रचुर सकेत करते हैं। इसी दृष्टि से समराङ्गण-सूत्रधार का प्रासाद-स्तवन बड़ा ही प्रशस्त है जो 'प्रासाद' वार (temple-wise) किया गया है। अतः समराङ्गणीय 'प्रासाद-स्तवन' का यहीं पर समुल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। वास्तव में 'ईष्टापूर्त' की परम्परा में प्रतिष्ठापित प्रासादों का यह माहात्म्य अन्यत्र दुर्लभ है—पुराण भी फीके दिखाई पड़ेंगे—ग्रन्थकार की ओजस्वी वाणी का निम्न उद्घोष सुनने लायक है

प्रासादराज' मेरु. अ० ५५. १४-१५	एवमेष चतुःश्रृङ्गश्चतुर्द्वारोपशोभित.। मेरुर्मेरूपमः कार्यो वाञ्छता शुभमात्मन.॥ सर्वस्वर्णमय मेरु यद् दत्त्वा पुण्यमाप्नुयात्। तमिष्टकाशैलमयं कृत्वा तदधिक भजेत्॥
सर्वतोभद्र ५५. ३०३, ५६. १४०	जय लक्ष्मीं यश. कीर्तिं सर्वाणीष्टफलानि च। करोति सर्वतोभद्र सर्वतोभद्रकः कृत.॥ विधाय सर्वतोभद्र देवानामालय शुभम्। लभते परम लोक दिवि स्वच्छन्द भाषितम्॥
रुचकादिचतुष्षष्टि-प्रासादा। अ० ५६-८	पुराणा भूषणार्थाय भुक्तिमुक्तिप्रदा. नृणाम्।

	मेर्वादिविंशिकायाम्
श्रीधरः	श्रीधरं कारयेद् यस्तु कीर्त्यर्थमपि मानवः ।
अ० ५७,४८,४९	इहैव लभते सौख्यममुत्रेन्द्रत्वमाप्नुयात् ॥
	भोगान् भुक्त्वा पुमान् स्वर्गं नीयते च परे पदे ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तः शान्तश्च स्यान्न संशयः ॥
सुभद्रः	प्रासादं ये सुभद्राख्यं कारयन्ति सुलक्षणम् ।
५७,१११½	कल्पकोटिसहस्राणि भद्रं तेषां शिवाग्रतः ॥
सुरसुन्दर	कुर्याद् य एवं प्रासादमीदृशं सुरसुन्दरम् ।
५७ पृ० ५७ वां	स वैरिञ्चं युगशतं सूर्यलोके महीयते ॥
नन्द्यावर्तः	भक्त्या ये कारयन्त्येन नन्द्यावर्तमनुत्तमम् ।
५७ पृ० ५९ वां	विमानं शुभमारुह्य शक्रलोकं व्रजन्ति ते ॥
सिद्धार्थः	यः कुर्यात् कारयेद् यस्तु सिद्धार्थं सर्वकामदम् ।
५७ पृ० ६१	स भवेत् सर्वकामाप्तिः शिवलोके च शाश्वतः ॥
शङ्खवर्धनः	यः शङ्खवर्धनं कुर्यात् स भुनक्ति चिरं महीम् ।
५७ पृ० ६२	वशगा चास्य सततं भवेल्लक्ष्मी कृताञ्जलिः ॥
त्रैलोक्य-भूषणः	त्रैलोक्य - भूषणः प्रभो वन्दितं त्रिदशैरपि ।
५७ पृ० ६२, ६४	आश्रयं सर्वदेवानां पापस्य च विनाशकम् ॥
	त्रैलोक्य - भूषणं कृत्वा त्रिदशानन्दकारकम् ।
	कल्पान्तं यावदध्यास्ते पुरुषस्त्रिदशालयम् ॥
पद्मः	पद्माख्यः कारितो येन प्रासादो रतिवल्लभः ।
५७ पृ० ६४	आत्मा समुद्धृतस्तेन पापपङ्कमहोदधेः ॥
पद्मबाहुः	पद्मबाहु कृतो येन त्रिगर्भः कर्मभूषितः ।
५७ पृ० ६५	स त्रिनेत्र प्रतापः स्यात् तुरङ्गमातनायकः ॥
लक्ष्मीधरः	अथ लक्ष्मीधरं प्रभो य कृत्वा विजयं नरः ।
५७ पृ० ६८ ६९	राज्यमायुष्यपूजां च गुणानाप्नोति चेश्वरान् ॥
	लक्ष्मीधराख्यं प्रासादं यः कुर्याद् वसुधातले ।
	अक्षये स पदे तत्वे लीयते नात्र संशयः ॥
रतिदेहः	रतिदेहमथ प्रभुः प्रासादं सुमनोरमम् ।
५७ पृ० ६९-७०	अप्सरोगण - संकीर्णं कामदेवस्य मन्दिरम् ॥
	एवं विध यः कुरुते प्रासादं रतिवल्लभम् ।
	सन्तोषयति कन्दर्पं स्याज्जनेषु स पुण्यभाक् ॥
सिद्धिकामः	सिद्धिकाममथ प्रभो प्रमथैरुपशोभितम् ।
५७ पृ० ७०-७१	धन - पुत्र - कलत्राणि कृते यत्राप्नुयान्नरः ॥
नन्दिघोषः	नन्दिघोषमथ प्रभो विपक्षभयनाशनम् ।
५७ पृ० ७२	य एवं भक्तितः कुर्यात् स भवेदजरामरः ॥
सुरानन्दः	यः करोति सुरानन्द वरदास्तस्य मातरः ।
५७ पृ० ७५	सुरास्तस्य हनिस्तार्यमपमृत्युं हरन्ति च ॥

हर्षणः	हर्षणः क्रियते यत्र स देशः सुखमेधते ।
५७ पृ० ७७	क्षेमं गोब्राह्मणानां स्यात् पूर्णकामश्च पार्थिवः ॥
दुर्जयः	दुर्जयः क्रियते यत्र पुरे नगरेऽथवा ।
५७ पृ० ७६	न भवेत् तत्र दुर्भिक्ष न च व्याधिकृत भयम् ॥
त्रिकूटः	य मस्त्रिकूट ब्रह्माद्यैः सेवित त्रिदशैस्त्रिभिः ।
५७ पृ० ७६	फल क्रतुसहस्रस्य येन मोक्ष च विन्दति ॥
वृद्धिरामः	प्रासादस्यास्य कर्ता च यावच्चन्द्रार्कतारकम् ।
५७ पृ० ८६	तावदिन्द्र इव स्वर्गे क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥
कैलासः	भुक्त्वा भोगांश्च कैलासे कल्पान्ते यावदीप्सितम् ।
५७-६३	शार्वं पदमवाप्नोति शान्त ध्रुवमनामयम् ॥
त्रिविष्टपः	कृत्वा त्रिविष्टप दिव्य प्रासादं पुरभूषणम् ।
५७ पृ० ६५	वसेत् त्रिविष्टपे तावद् यावदाभूतसप्लवम् ॥
	तस्यान्ते तु परे तत्त्वे लयमाप्नोति मानवः ।
क्षितिभूषणः	गुणवान् नृपतिर्यद्वद् भूषयत्यखिलां महीम् ।
५७ पृ० ६६	क्षितिं विभूषयत्येवं प्रासादः क्षितिभूषणः ॥
	द्रव्येषु रेणुसंख्या या सुधायामपि यावती ।
	तावद्युगसहस्राणि कर्ता शिवपदे वसेत् ॥
विमान॰	अश्वमेधप्रधानैर्यदिष्टैः क्रतुशतैर्भवेत् ।
५७ पृ० १०२	तदेकेन विमानेन फलमाप्नोति मानवः ॥
मुक्तकोणः	निर्मापयन् नरः कश्चिन्मुक्तकोणं महायशा॰ ।
५७ पृ० १०६	सप्राप्नोति महासौख्य विमुक्त सर्वपातकै. ॥
	सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त सर्वकिल्बिषवर्जितः ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तो भोगं मोक्ष च विन्दति ॥
	दिग्भद्रादिप्रासादेषु
दिग्भद्र॰	इम दिग्भद्रसज्ञ यः प्रासाद कारयेत् पुमान् ।
६४. १४.	शतक्रतुफल सोऽपि लभते नात्र संशय. ॥
महाभद्रः	महाभद्रमिम योऽत्र कारयेद् भक्तिमान् नरः ।
६४ ७८	स स्वर्गे सुरनारीभि. सेव्यते मदनाज्ञया ॥
	भूमिजप्रासादेषु
मलयाद्रि	मलयाद्रिरय प्रोक्त प्रासादः शुभलक्षणः ।
६५. ३६	य एम कारयेत् तस्य तुष्यन्ति सकला. सुरा. ॥
	वर्षकोटिसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।
सर्वाङ्ग-सुन्दर	सर्वाङ्गसुन्दर य म. प्रासादमथ सुन्दरम् ।
६५-१११	भुक्तिमुक्तिप्रदातार मण्डनम् ॥

टि०—इसी प्रकार का 'प्रासाद-स्तवन' समराङ्गण के प्रासाद-वास्तु में भरा पड़ा है। यह उपलक्षण-मात्र है। ये ही पद्य चुने गये हैं जो 'इष्टापूर्त' की ओर संकेत करते हैं।

की रूप-रेखा में बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख धाराओं—हीनयान एवं महायान—की अपनी अपनी विशिष्टताओं के अनुरूप इन धार्मिक स्थानों—आवास-गृहों एवं पूजा-गृहों की विरचना हुई। इस समय की सर्वश्रेष्ठ एव एक विशिष्ट कलाकृति गुहा-मन्दिर या लयन-प्रासाद अथवा पर्वत-तक्षण-वास्तु (Rockcut-Architecture) का एक अभूतपूर्व विकास प्रारम्भ हुआ। एतत्कालीन वास्तु-पीठों में अमरावती, साची अजन्ता, जुन्नार, कार्ली, भाज, कोण्डन, नासिक, उड़ीसा (खण्डगिरि), रानीगुम्फा एवं गान्धार तथा तक्षशिला विशेष उल्लेख्य हैं।

भारतीय वास्तु-कला के रोचक इतिहास में जहा पहले विकासवाद के क्रमानुसार मृत्तिका एवं काष्ठ ऐसे प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग हुआ, वहा पर्वत-प्रदेश भी तो प्रकृति-प्रदत्त थे। फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी, निष्ठा की कमी न थी, श्रम, अध्यवसाय एवं धैर्य के धनियों की भी कमी न थी। छेनी ने कमाल कर दिखाया। बड़े-बडे पर्वतों को काट-काट कर जो कला-भवन विनिर्मित हुये वे आज भी हमारे गर्व की चीज हैं।

इस प्रकार यहा के स्थपति और स्थापक यद्यपि प्रकृति के द्वारा सुलभ द्रव्यों के सहारे अपने निर्माण सम्पन्न करते रहे परन्तु वैदिक-कालीन इष्टिका-चयन की परम्परा विस्मृत नहीं हुई थी। अतः पाषाण-तक्षण-वास्तु के साथ-साथ ईशवीयोत्तर शतकों में ऐष्टिक-भवन (Brick-building) की निर्माण-परम्परा सर्वप्रथम उत्तर भारत में प्रारम्भ हुई। मथुरा, सारनाथ, वनारस, गया की तत्कालीन कला इसी कोटि में आती है। पर्सी ब्राउन (See Indian Architecture p 50) ने ऐसे भवनों को चार समूहों में विभाजित किया है जिनमें अधिकाश बौद्ध हैं। इनका द्वितीय वर्ग 'ब्राह्मण-मन्दिर' के नाम से उपश्लोकित है। इन मन्दिरों में कानपुर जिले में भीटरगाव का ऐष्टिक प्रासाद बडे महत्व का है जो इष्टका-चयन-कला की उदात्तता एवं पुष्टता पर ही प्रकाश नहीं डालता है; वरन् प्रासाद-वास्तु की प्रोन्नत रूपरेखा का भी संकेत करता है। भीटरगाव के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश में रामपुर जिले में खरोद और सीरपुर के मन्दिर भी इसी कोटि में परिगणित किये गये हैं। वाम्बे प्रेसीडेन्सी के शोलापुर के निकट तेर पर दो आयतन (Shrines) भी इसी वर्ग-वृक्ष की वल्लरिया हैं।

भारशिव-वाकाटक-काल (तीसरी-चौथी शताब्दी) में नागर-शैली के मन्दिर बने। इन मन्दिरों में भूषा-विन्यास का प्रारम्भ हो गया था। खर्जूर-वृक्ष (जो नागों का चिन्ह था) की प्रतिकृति अधिकता से मिलती है। भार-शिव नाग-राजाओं के समय से ही गङ्गा-यमुना आदि नदी-देवियों का प्रतिमा-चित्रण भी मन्दिर के तोरण-चौखटों पर अङ्कित होने लगा था। भूमरा और देवगढ के प्राचीन मन्दिर इस पद्धति के प्रदर्शन हैं।

वाकाटक राजवंश की भी, मन्दिर-निर्माण-कला में, कम देन न थी। इनके समय में शिवालयों का विशेष प्राधान्य था जिनमें एकमुखी एवं चतुर्मुखी लिङ्गों की स्थापना हुई। ऐसे मन्दिरों का प्रमुख केन्द्र नचना है। नचना के मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों की वास्तुकला से साम्य रखते हैं। ये मन्दिर भूमरा और गुप्त-कालीन मन्दिरों की कला की लड़ी को जोड़ते हैं। वाकाटक मन्दिर भी प्रायः गुप्तकाल के हैं। सम्प्रदाय-भेद से नाग-वाकाटकों के सभी मन्दिर शैव-सम्प्रदायानरूप तथा गुप्तवंशियों के वैष्णव-सम्प्रदायानरूप हैं।

गुप्त नरेशों का स्वर्णिम समृद्ध राजवंश

भारतवर्ष के इतिहास में गुप्त-काल 'स्वर्णयुग' के नाम से संकीर्तित किया गया है। काव्य और नाटक, साहित्य और शास्त्र, कला और संगीत—सभी में इस काल में अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त-कालीन कला की ओजस्विता एवं भावाभिव्यञ्जना तथा गतिमत्ता उस काल के अप्रतिम वैभव एवं अनन्त ऐश्वर्य के ही प्रतीक हैं। गुप्तकालीन 'स्तम्भों' में घट-पल्लव (Vase and leaves) का विच्छित्ति-निवेश (Moulding) भी इसी उद्दाम गतिमत्ता एवं द्रुतगति से विस्तार का प्रतीक है।

गुप्त-नरेशों के राज्य-काल में (लगभग ३०० वर्ष—३५० ६५० ई०) उदीयमान भारतीय वास्तुकला की विशेषताओं पर आगे समीक्षा होगी। यहां इतना ही निर्देश्य है कि इस समय की प्रधान कलाकृतियों में जो अब तक विद्यमान है उनमें तिगवा पर कंकलीदेवी का विष्णु-मन्दिर अत्यधिक प्रशस्त हैं। तिगवा के अतिरिक्त एरण (भिलसा के उत्तर-पूर्व), साची, नागोद स्टेट में भूभरा और अजयगढ के नचना आदि स्थानों के मन्दिर भी उल्लेख्य हैं। इनमें एरण में राजाधिराज समुद्रगुप्त की राजमहिषी का बनवाया हुआ विष्णु-मन्दिर बड़ा सुन्दर है। देवगढ के मन्दिर की बाह्य भित्तियों पर शेषशायी नारायण का चित्रण बड़ा ही मार्मिक एवं आकर्षक है।

पांचवीं शताब्दी से आगे की भारतीय वास्तु-कला एक प्रकार से प्रासाद कला है जिसके प्रोत्थान में यहां के राजकुलों की वरेण्य वदान्यता की गौरवगाथा ही मन्दिरों की गाथा है। अतएव हिन्दू प्रासाद की यह 'राजाश्रया' पृष्ठ-भूमि सार्थक होती है।

चालुक्य नरेश

गुप्त नरेशों के संरक्षण में उदीयमान उत्तरापथीय वास्तुकला में प्रासाद-कला की जैसी अभिवृद्धि हो रही थी वैसी ही उसी काल में (४५०—६५० तथा ६००—७५० ई०) दक्षिण में चालुक्य नरेशों के संरक्षण से यह कला एक दूसरी ही दिशा में प्रोल्लास को प्राप्त हो रही थी। आयहोल, बादामी (वातापि या वितापि) तथा पत्तदकल—इन तीन चालुक्य राजपीठों पर शतशः देवनायतनों—विमानों एवं प्रासादों का प्रोत्थान हुआ जिनकी सविस्तर समीक्षा आगे द्रष्टव्य है। इन प्राचीन राजपीठों पर वास्तु-पीठों का जो विकास हुआ उनमें उत्तरापथीय तथा दाक्षिणात्य दोनों शैलियों के उत्थान का आनुषङ्गिक क्रम देखने को मिलेगा। पापानाथ, जम्बूलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीनाथ (उत्तर-शैली में) तथा संगमेश्वर, विरूपाक्ष, मल्लिकार्जुन, जगन्नाथ, सुन्मेश्वर आदि (दाक्षिणात्य वास्तु-शैली में) मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

राष्ट्रकूट राजा

राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७५७-७८३) की अप्रतिम भक्ति भावना एवं धर्माशय के कारण ही भारतीय स्थापत्य का मुकुट मणि इलोरा का कैलाश-मन्दिर निर्मित हो पाया था। इसी प्रकार इलौरा और अजन्ता के अन्य गुहामन्दिरों की गाथा है।

दाक्षिणात्य वास्तु-कला

ईशवीयोत्तर सप्तम शतक के बाद षोडश शतक तक निर्मित होने वाले नाना प्रासादों के इतिहास पर ऐतिहासिकों ने दो प्रमुख शैलियों के अनुरूप समीक्षा की है। अतः उसी दृष्टिकोण से हम भी यहाँ पर इन दोनों शैलियों के अनुरूप 'राजाश्रय' का संकीर्तन करेंगे।

दक्षिणी कला के विकास में निम्नलिखित पांच राजकुलों की वरेण्य वदान्यता एवं वरिष्ठ प्रासाद-कला संरक्षण प्रस्तावनीय हैं :

१.	पल्लव राजवंश	(६०० — ६०० ई०)
२.	चोल राजवंश	(६००—११५० ,,)
३.	पाण्ड्य नरेश	(११००—१३५० ,,)
४	विजयनगर ,,	(१३५०—१५६५ ,,) तथा
५.	मदुरा ,,	(१६००—)

पल्लव राजवंश

द्राविड-देश में द्राविड़-शैली के विकास में पल्लव-राजवंश के संरक्षण ने शिलान्यास का काम किया है। आन्ध्र-राजाओं के अनन्तर द्राविड़-देश की राजसत्ता पल्लवों के हाथ में आई और इनकी प्रभुता सप्तम से लगाकर दशम शतक के प्रारम्भ तक प्रवृद्ध रही। इस राजसत्ता का सीमा-प्रभुत्व आधुनिक मद्रास-राज्य था और इनकी कला-कृतियों की क्रीडा-स्थली इनके राज्य के केन्द्र में इनके राज-पीठ कञ्जीवरम् (काञ्चीपुरम्) के आस-पास विशेष रूप से केलि करती रही। इनके प्रासाद-निर्माण-वैभव का प्रसार तञ्जौर तथा पुडुकोट्टई ऐसे सुदूर दाक्षिणात्य प्रदेशों तक पहुँचा।

इस काल के पल्लव-राजवंश में चार प्रधान नरेश हुए जिनके नाम पर पल्लवों की वास्तु-कृतियों के भी चार वर्ग किये गये हैं। इनमें विशेषता यह है कि इन चारो वर्गों को वास्तव में वास्तु-कला की दृष्टि से दो वर्गों में ही समीक्षा उचित है—प्रथम में आपूर्ण पार्वत-वास्तु (Wholly rockcut) के निदर्शन तथा द्वितीय में आपूर्ण भू-निवेशीय वास्तु (Wholly structural) के निदर्शन आपतित होते हैं। इनकी विस्तृत समीक्षा आगे की जावेगी। यहा पर पूर्वसंकेतित चार राजाओं के कालक्रमानुसार निम्नलिखित चार वर्ग विभाजनीय हैं :

१.	महेन्द्र-मण्डल	(६१०—६४०)	मण्डप-निर्माण	पार्वत-वास्तु
२.	मामल्ल-मण्डल	(६४०—६६०)	विमानों एवं रथों का निर्माण	,,
३.	राजसिंह-मण्डल	(६६०—८००)	विमान (मन्दिर)-निर्माण	निविष्ट-वास्तु
४.	नन्दिवर्मन-मण्डल	(८००—६००)	,,	,,

प्रथम अर्थात् महेन्द्र-मण्डल की प्रासाद-कृतिया मदगपट्टु, त्रिचनापल्ली, पल्लवरम् मोगलार्जुनपुरम् आदि नाना स्थानों पर फैली हुई हैं। द्वितीय वर्ग का प्रासाद-वैभव मामल्लपुरम् के प्रख्यात वास्तु-पीठ पर ही सीमित रहा। यहा के सप्त-रथ (Seven pagodas

की कीर्ति से प्राचीन वास्तु-इतिहास धवलित है। इन रथों का संकीर्तन पञ्च पाण्डवों और गणेश के नाम मे किया गया है—धर्मराज, भीम, अर्जुन, सहदेव, गणेश आदि।

तृतीयवर्ग का कला-कौशल विशेष विख्यात है। अब वह पार्वतीय गुहामन्दिरों के तक्षण से विराम लेकर भू-निविष्ट विमानो एवं प्रासादों की ओर मुड़ता है। इस तृतीय उत्थान का मूर्धन्य महीपति राजसिंह था जिसके काल मे मामल्लपुरम पर ही तीन विमान विकसित हुए—उपकूल (Shore), ईश्वर तथा मकुन्द। पनमलाई (South Arcot Dist.) का एक मन्दिर तथा कञ्जीवरम् के कैलाश-नाथ और वैकुण्ठ-पेरूमल ये दो मन्दिर भी इसी काल के कौशल के विख्यात निदर्शन हैं।

चतुर्थवर्ग पल्लव राजसत्ता का धूमिल इतिहास है। नन्दिवर्मन के राज्यकाल में विनिर्मित प्रासाद न तो गगनचुम्बी विमान कहे जा सकते हैं और न कौशल की अतिरञ्जना। और सत्य तो यह है कि वास्तु-वैभव-एव साहित्य-वैभव राजसत्ता के वैभव की निशानी हैं। अतः जव राजसत्ता का ही ह्रास उपस्थित है तो साहित्य और कला को भी दीना होना ही पड़ता है। इस अन्तिम वर्ग में प्रमुख निदर्शन लगभग ६ हैं, जो कञ्जीवरम् के मुक्तेश्वर तथा मातगेश्वर, चिंगलपट में औरङ्गदम के वदमल्लीश्वर, अरकोनम् के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर और गुडीमल्लम के परशुरामेश्वर में प्रेक्ष्य हैं।

चोलों का राजवश

एक ही विशाल भू भाग के मण्डलेश्वरों का पारस्परिक प्रभुता-सघर्ष भारतीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी हिन्दू-सत्ता की सामान्य कथा है। दक्षिण मे पल्लवों, चोलों, चालुक्यों, पाण्ड्यों एव राष्ट्रकूटों—सभी ने इस काल (६००-११५०) में अपनी अपनी प्रभुता की प्रतिस्पर्धा की। परिणामतः चोलों को प्रभुता-सघर्ष मे विजय-श्री ने बरा।

चोलों की प्रासाद-कला को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है—स्थानीय क्षुद्र कृतिया तथा बृहत्तर विशाल कृतिया। यतः अपने शासन-काल के प्रभात में वे राज्य की दृढता, सुरक्षा एव सीमा-विस्तार में लगे रहे, अतः १०वी शताब्दी की कृतियां पुडुकोट्टाई के इतस्तत. विनिर्मित हुई जिन्हें क्षुद्र-कृतियों के रूप मे ही परिगणित किया जा सकता है। इनमें निम्नलिखित मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं :

क्षुद्र कृतियाँ

सुन्दरेश्वर	— तिरुकट्टलाई	मुचुकुन्देश्वर	— कोलट्टूर
विजयलय	— नरतमलाई	कदम्बर — कदम्बरमलाई (नर्तमलाई)	
मुवरकोइल (त्रि + आयतन)	—कोडुम्बेलुर	बलसुब्रह्मण्य—कन्नार	

इसी प्रकार चोलों की अन्य कृतियाँ सुदूर दक्षिण अरकाट जिले मे भी पाई जाती हैं। ये सभी कृतियाँ १०वीं शताब्दी की हैं।

विशाल कृतियाँ

चोलों की बृहत्तर विशाल प्रासाद-कृतिया चोलों के बृहत्तर एवं विशाल राज्य-विस्तार एव महान ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। ये हैं—तन्जौर का बृहदेश्वर-मन्दिर तथा गंगैकोण्डचोल-पुरम् का मन्दिर। प्रथम का प्रासाद कारक यजमान महामहीपति राजराज (६८५—

१०१८) है जिसने अपनी अपार धनराशि एवं लोकोत्तर वैभव को देवचरणों में समर्पित करने के लिये यह महा अनुष्ठान ठाना। ऊँचाई में और आकार में दाक्षिणात्य कला का यह अनूठा एवं अनुपम विमान विनिर्मित हुआ। इसकी विशेष समीक्षा आगे द्रष्टव्य है। द्वितीय अर्थात गंगैकोण्डचोलपुरम् का विधाता राजेन्द्र प्रथम ने (१०१८—३३) सम्भवतः अपने पूर्वज से प्रतिस्पर्धा लेकर ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस प्रकार चोलों की अनुपम कृतियों में भारतीय वास्तु-कला की दक्षिणी शैली के उत्थान की पराकाष्ठा पहुँच गयी। यद्यपि संख्या कम है परन्तु गुणातिरेक से चोलों का वास्तु-वैभव भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

पाण्ड्य राजकुल

पाण्ड्य राजाओं के काल में प्रासाद-कला में एक अभिनव कला-कृति का उदय हुआ। पीछे के अध्याय में मन्दिरों को हम तीर्थ-स्थानों के रूप में देख चुके हैं। मन्दिर और तीर्थ का यह तादात्म्य हिन्दू संस्कृति का पौराणिक विलास है। अतः जो भी मन्दिर बन गये—जहाँ कहीं भी देव स्थान प्रकल्पित हो चुका वह सदा सर्वदा के लिये पूज्य बन गया। अतः वास्तु-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजकुल यदि किसी नवीन मन्दिर के निर्माण को न उठा सके तो पूर्व-निर्मित मन्दिरों के ही क्षेत्र में किसी न किसी कृति के द्वारा अपनी भक्ति एवं अपूर्त-आस्था को प्रश्रय देते। इस दृष्टि से यद्यपि पाण्ड्य-राजाओं के समय में चोलों के विशाल विमानों की रचना नहीं हुई और चोलों के बाद बहुत समय तक (लगभग २०० वर्ष) तामिल देश इस प्रकार की कला-कृतियों से एक प्रकार से शून्य रहा तथापि यह निस्सन्दिग्ध है कि पाण्ड्यों के समय दाक्षिणात्य वास्तु-कला में एक अभिनव वास्तु चेतना प्रतिस्फुटित हुई। यह है मन्दिरों का प्राकार-विन्यास तथा मन्दिरों की चारों दिशाओं में गोपुरों की छटा का श्रीगणेश। दक्षिण भारत के उत्तुङ्ग गोपरों की परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी पाण्ड्य-काल को है।

पाण्ड्यों के पूर्व भी मन्दिर-द्वारों को विच्छित्ति-विशेष से अलंकृत करने की कतिपय मन्दिरों में प्रथा थी जैसे काञ्चीवरम् के कैलाशनाथ-मन्दिर, तथापि यह परम्परा पूर्णरूप से न तो पनप ही पाई थी और न इसकी वास्तु-कला ही समृद्ध हो पाई थी। पाण्ड्यों ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया और पूर्वविनिर्मित कतिपय प्रख्यात प्रासाद-पीठों पर जैसे जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम्, तिरूवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम में गोपरों का निर्माण कराया। गोपुर-वास्तु-कला की सविस्तर समीक्षा का यहा पर अवसर नहीं है (दे० आगे तृतीय पटल) पाण्ड्यों के काल में एकाध पूरे मन्दिर भी बने। दरसुरम् का मन्दिर इसी कोटि में आता है।

विजय नगर की राजसत्ता (१३०५—१५६५)

चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध दाक्षिणात्य स्थापत्य की प्रासाद कला में एक नवीन युग की सृष्टि करता है तथा दक्षिणी कला का मं प्रौढ विकास प्रस्तुत करता है—जब कला में अतिरञ्जना एवं अलंकृति-चित्रण (Ornamentation) के साथ-साथ रसास्वाद की भावना ने जड़ पकड़ी। कला के पूर्ण सौष्ठव की निष्पत्ति में स्थपतियों के स्वाच्छन्द्य एवं उनकी

सौन्दर्य-प्रियता के साथ-साथ तन्मयता भी आवश्यक है। दक्षिण की कलात्मक कृतियों में यह अभिनव विलास तब उदय हुआ जब दक्षिणी राजसत्ता ने विजयनगर के नृपपुङ्गवों के राजवंश में पदार्पण किया। विजयनगर के राजाओं ने दक्षिण महादेश पर लगभग २०० वर्ष तक राज्य किया। इनके राज्य-काल में प्रासाद कला अपने यौवन के उद्दाम प्रवाह में बहने लगी जो मोहक थी और चित्तोद्वेलक भी।

भारतवर्ष के मध्यकाल के मोहम्मदीय यवनों के आक्रमणों एवं कठोर शासन से हम परिचित ही हैं। विजय-नगर ने हिन्दू-सत्ता को जीवित रखने का बीड़ा उठाया। यह महा-नगरी उस समय एशिया की परम प्रख्यात राज-नगरियों में एक थी। कृष्णा से लेकर कन्यान्तरीप तक इस राजकुल का आधिराज्य था और यह नगरी उसका राज-पीठ। तुङ्गभद्रा के पावन जल से पावित यह समृद्ध नगर नाना मन्दिरों के निर्माण का केन्द्र बना।

विजयनगर के अभ्यन्तरालीय मन्दिरों में सर्वप्रधान एवं सर्वप्रसिद्ध विठ्ठल तथा हजाराराम के साथ-साथ नगर का अधिदैवत-मन्दिर पम्पापति है। इनमें विठोबा (पाण्डुरङ्ग) कृष्ण का मन्दिर (विठ्ठल) सर्वश्रेष्ठ है। राजा कृष्णदेव ने १५१३ ई० में इसका निर्माण प्रारम्भ कराया। कृष्णदेव के उत्तराधिकारी ने उसे जारी रक्खा परन्तु इस मन्दिर की पूर्णता तब भी न सम्पन्न हुई। हजाराराम एक प्रकार से विजय-नगर का राज मन्दिर (Royal Chapel) था जिसके चारों ओर का प्राकार (Boundry Wall) २४ फीट ऊँची दीवालों का था। इसे भी कृष्णदेव राया ने १५१३ ई० में बनवाना प्रारम्भ किया था तथा कला-सौष्ठव की दृष्टि से यह अपने समय की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

इन विजय-नगरीय कृतियों की सर्वप्रमुख विशिष्टता पूर्वोद्दिष्ट शोभा बहुलता (Ornamentation) है, तथा वास्तु-विजृम्भण की दृष्टि से मन्दिर के प्रधान निवेश विमानोत्थान के अतिरिक्त अन्य नाना निवेश एवं गौण मन्दिरों का न्यास है। मन्दिर की अधिदेवता (देव) की पत्नी के मन्दिर की प्रतिष्ठा के साथ-साथ कल्याण-मण्डप एवं अर्ध मण्डप आदि अनेक निवेशों की रचनाओं से मन्दिर पूरा नगर सा प्रतीत होता था।

विजय नगरीय-साम्राज्यान्तर्गत इसी शैली में अन्य अनेक मन्दिर भी बने जिनमें वेलोर, कुम्भकोणम्, कञ्जीवरम्, ताडपत्री, विरञ्जिपुरम् तथा श्रीरङ्गम के पीठ विशेष प्रख्यात हैं।

मदुरा के नायक-राजा (१६००)

मुसलिम सत्ता से पदाक्रान्त विजय-नगर की राजसत्ता १५६५ ई० में अस्त हो गयी। अतः तामिलदेश की हिन्दू सत्ता दक्षिण की ओर और पीछे लौटी और मदुरा को अपना राजपीठ बनाया। नायकों के नायकत्व में जहाँ इस सत्ता की प्रभुता प्रतिष्ठित हुई वहाँ दाक्षिणात्य स्थापत्य-शैली की चरमोन्नति ही नहीं प्रतिफलित हुई वरन् यह शैली अपने अन्तिम रूप में भी परिणत हो गयी जो बहुत अंशों में आधुनिक युग तक चली आई।

इस समय के महा वास्तु वैभव का सर्वाधिक श्रेय नायक राजवंश के सर्वाधिक विख्यात राजा तिरुमलाई (१६२३—१६५६) को है जिसके उदार संरक्षण एवं उद्दाम उत्साह से सुन्दरतम वास्तु कृतियाँ उदय हुई। नायकों ने भी पाण्ड्यों के सदृश पुनोत्थित प्रासादों पर ही नाना अन्य रचनाओं के द्वारा कला के विकास को प्रश्रय दिया। अथच

पूजावास्तु का वह प्रोत्थान पूजा-प्रक्रिया की औपचारिक पद्धति एवं नाना उत्सव-संभारों की माग के कारण पूर्ण स्वाभाविक ही था। प्राकारम् और गोपुरम् के साथ-साथ मण्डपम् (सहस्रमण्डपम्, भोगमण्डपम्, उत्सवमण्डपम्, दर्शनमण्डपम्) और तड़ागम् की रचना की आवश्यकता का अनुभव हुआ, अतएव आविष्कार भी।

मदुरा की दक्षिणी शैली में विनिर्मित मन्दिरों की संख्या वैसे तो लगभग तीस हैं, परन्तु उनमें निम्नलिखित विशेष प्रख्यात हैं जिनकी गौरव-गाथा एवं वास्तु-कला पर हम आगे सविस्तर प्रतिपादन करेंगे .

मीनाक्षी-सुन्दरेश्वरम्	(मदुरा)	रामेश्वरम्
श्रीरङ्गम्	त्रिचनापल्ली के निकट	चिदम्बरम्
जम्बुकेश्वर	,, ,,	तिन्नवेल्ली
तिरवरूर		तिरूवन मलाई तथा श्रीवेल्लीपुतुर

दक्षिण महादेश के विभिन्न राजवंशों के राज्याश्रय से विकसित एवं वृद्धिगत दाक्षिणात्य प्रासाद-कला की इस अति संक्षिप्त सूचना के उपरान्त अब उत्तर भारत के माण्डलिक राजाओं के राजाश्रय से प्रोत्थित एवं प्रौढंगत प्रासाद-कला के इतिहास पर भी थोड़ा सा विहगावलोकन वाञ्छनीय है। उत्तर भारत पर विकसित इस प्रासाद-कला की शैली को नागर-कला अथवा उत्तर-भारती-कला के नाम से पुकारा गया है। आर्यावर्त (उत्तरापथ या उत्तर-भारत) एव दक्षिणापथ—भारतवर्ष के इन दो विशाल भौगोलिक भू-विभागों मे एक प्रकार से दो प्रकार की प्राचीन सस्कृतियों (क्रमश. आर्य एव आर्येतर—द्राविड) का विकास हुआ अतएव अपनी-अपनी सास्कृतिक विशिष्टताओं के कारण दो प्रमुख शैलियों का विकास भी स्वाभाविक हुआ। यद्यपि दक्षिणापथ भी आर्यों की सभ्यता एवं संस्कृति से प्राचीनकाल में ही पूर्ण प्रभावित हो गया था तथापि दक्षिण की अपनी कुछ विशिष्टताओं से वहा का जीवन सनातन से कुछ विलक्षण ही रहा।

अस्तु, इसी सास्कृतिक मूलाधार की दृष्टि से इस देश मे वास्तु-विद्या की दो धारायें एव वास्तु-कला की दो शाखायें प्रस्फुटित हैं। इन दोनों की पारस्परिक क्या-क्या विलक्षणतायें हैं और कौन-कौनसे सामान्य घटक हैं—इन सब पर आगे द्वितीय पटल मे 'प्रासाद-शैलियाँ' नामक अध्याय में सविस्तर समीक्षा होगी। यहाँ पर प्रसङ्गवश उत्तरी शैली में विकसित प्रासाद-कला के राज्याश्रय की स्वल्प मे समीक्षा का अवसर है।

उत्तरापथीय वास्तु-कला

दाक्षिणात्य वास्तु-कला के क्षेत्र से उत्तरापथीय वास्तु-शैली—नागर शैली का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और लम्बा है। दक्षिण देश की प्रासाद-कला का उदय विशेष कर उस देश के मण्डलेश्वरों के राजपीठों मे हुआ अतः वहां की कला का वर्णन राजवंशानुक्रम (dynastically) से विशेष सुविधापूर्ण है, परन्तु उत्तर भारत में इतस्ततः नाना प्रासादों का निर्माण हुआ और उनके निर्माण में भी यद्यपि राजाश्रय प्रधान था परन्तु जनाश्रय भी कम न था अतः उत्तरी प्रासाद-कला की राजवंशानुक्रम से ऐतिहासिकों ने समीक्षा

करने में कठिनता अनुभव की है। तदनुरूप स्थानीय केन्द्रों से इस शैली का विवेचन किया गया।

उत्तर भारत की प्रासाद-कला के इस स्थानीय विकास (regional development) के अनुरूप स्थानीय कला-केन्द्रों का निम्नलिखित षड्वर्ग समुपस्थापित किया जाता है:

१. उत्कल या कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) – भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी।
२. बुन्देलखण्ड – खजुराहो।
३. मध्य भारत एवं राजस्थान।
४. गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़।
५. सुदूर दक्षिण (खान देश)।
६. मथुरा-वृन्दावन।

प्रकृत में हम इस क्रम को नहीं अपना सकते (यह क्रम आगे तृतीय पटल में द्रष्टव्य होगा)। इस अध्याय के शीर्षकानुरूप राजवंशानुक्रम से ही विवेचन समीचीन है।

केसरी राजाओं के वास्तु पीठ

उत्तरी शैली की कला कृतियों में सर्वप्रथम सङ्कीर्तन केशरी राजाओं का राज-पीठ—भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के धर्म-क्षेत्र पर हम पूर्व अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर की कीर्तिपताका को दिग्दिगन्त में उड़ाने का श्रेय 'लिङ्गराज' के मन्दिर को है।

भुवनेश्वर केशरी राजाओं की राजधानी रहा है। केशरी राजाओं के चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ११वीं शताब्दी तक उड़ीसा-मण्डल के मन्दिरों में भुवनेश्वर की मन्दिर-माला के अतिरिक्त २ मन्दिर-पीठ और विशेष विख्यात हैं—कोनार्क का सूर्य-मन्दिर तथा पुरी का श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर।

कोनार्क को किसने बनवाया—असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नहीं। भुवनेश्वर से ३५ मील तथा पुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र की वेला पर विराजमान यह दिव्य प्रासाद सम्भवतः ६वीं शताब्दी में विनिर्मित हुआ था और १६वीं शताब्दी तक अपनी पूर्ण ऊर्जस्विता एव कलेवरता में विद्यमान था क्योंकि आधुनिक रूप तो भग्नावशेष ही है—विमान ध्वस्त है जगमोहन की ही मोहनी छटा पर मुग्ध होकर कला के मर्मज्ञों ने इसे भारतवर्ष की ही नहीं ऐशिया महाद्वीप की महाविभूति माना है। लगभग ३०० वर्ष तक यह बालू के ढेर में ढका हुआ पड़ा रहा। भारत सरकार ने कई लाख रूपिये लगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया था तब लोगों को इस महिमामय वास्तुरत्न की परीक्षा का अवसर मिला। इसकी वास्तु-कला एव अन्य विभिन्न विवरण आगे समुपस्थापित होंगे।

पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर के निर्माण-काल एवं कारक-यजमान पर भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री मनमोहन चक्रवर्ती (See his paper on the date of Jagannatha temple in Puri—J A S B, Vol 67 for 1898, pt 1 pp. 328-331) ने निम्नलिखित श्लोक—

"प्रासा पुरुषोत्तमस्य नृपति को नाम कर्तुं क्षम-
मस्येत्याद्यनृपैरुपेक्षितमय चक्रेऽथ गङ्गेश्वरः॥ (गङ्गवंश ताम्रपत्र)

के आधार पर इस प्रासाद को गङ्गेश्वर (गोडगंग) का बनवाया हुआ बताते हैं। यतः गोडगंग का राज्याभिषेक १०७८ ई० में हुआ था अतः इस मंदिर की तिथि १०८५-१०९० मनमोहन ने मानी है। इसके विपरीत डा० डी० सी० सरकार ('God Purusottama at Puri'—J. O R., Madras Vol. 17 pp 209-215) ने उड़िया के प्रख्यात पुराण (Chronicle)-मादला-पाञ्जी के अनुसार इस प्रासाद के निर्माण का श्रेय गोडगंग को न देकर उसके दरपोते (great grandson) अनङ्गभीम तृतीय को देते हैं। मित्र तथा हन्टर महाशय (cf. 'Antiquities of Orissa' Vol II pp. 109-110& 'Orissa' Vol. 1. pp.110-102) भी इसी मत का पोषण करते हैं तथा निम्न श्लोक का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं:—

शकाब्दे रन्ध्रशुभ्रांशुरूपनक्षत्रनायके।
प्रासादं कारयामासानङ्गभीमेन धीमता॥

(also cf. 'History of Orissa' by Dr. R D Bannerjee)

अस्तु, इस एतिहासिक प्रामाण्य के अतिरिक्त पौराणिक प्रामाण्य के आधार पर (दे० पीछे का अध्याय) यह मन्दिर अति प्राचीन है और इसका कई बार जीर्णोद्धार कराया गया है। इसकी मूर्तियाँ तो निस्सन्दिग्ध प्राचीन हैं— सम्भवतः ईशवीयोत्तर तृतीय शतक की। मुसलमानों ने इस पर कई बार आक्रमण किये तथा इसे ध्वस्त किया। कहा जाता है १६ वीं शताब्दी में मराठों ने इसके जीर्णोद्धार में योग दिया था।

अस्तु, केशरी राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष एवं चौवालीस पीढ़ियों तक उत्कल प्रदेश पर राज्य किया। ययाति (८ वीं श०) नामक राजा के राज्य-काल में हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति के उत्थान के साथ-साथ हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण-वैभव प्रारम्भ हुआ। हर्ष का विषय है कि भुवनेश्वर की प्राचीन गरिमा एव भौगोलिक महिमा (जलवायु आदि) को दृष्टि में रखकर आधुनिक शासन ने भी उड़ीसा की राजधानी के लिये इसे उपयुक्त समझा।

कहा जाता है केशरी राजाओं ने इस स्थान पर सात हजार मन्दिर बनवाये थे। अब भी बहुसंख्यक मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें ईसा की पाचवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक के मन्दिर मिलेंगे। पुण्य पुरी एवं प्रख्यात क्षेत्र काशी को छोड़कर भारत में कदाचित् ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जहा इतने अधिक देव-मन्दिर एक साथ निर्मित हुए हों।

इन मन्दिरों में मुख्य मन्दिर श्री लिङ्गराज जी का है। ललाटेन्दु केशरी (६१७ से ६५७ ई०) ने इसका शिखर निर्मापित कराया था। भुवनेश्वर के प्रासादों एव प्रासाद-स्थापत्य पर हम विशेष विवेचन आगे करेंगे। लिङ्गराज के अतिरिक्त अन्य प्रमुख मन्दिरों की माला का दिग्दर्शन हमारे प्रतिमा-विज्ञान (दे० प्र० वि० की पृष्ठ-भूमि पूजा परम्परा अ० १०, पृ० १६५) में विलोकनीय हैं।

चन्देलों का वास्तु पीठ खजुराहो

खजुराहो इस समय एक छोटा सा गाव है, परन्तु किसी समय यह जझौती (यजुर्होती) प्रान्त की राजधानी थी। यह स्थान विद्या और वैभव का अनूठा स्थान था। सम्भवतः 'यजुर्होती' इस शब्द से ही बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। चन्देल राज-वंशीय राजन्यों में यशोवर्मन एवं उसके पुत्र धंगदेव का विशेष गौरव है जिन्होंने इस राज वंश को नीव को सुदृढ़ बनाने में कसर न रक्खी।

महोबा के चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्मा ने आठवीं शताब्दी मे चन्देल राज्य की नींव डाली थी। ८ वीं से लगाकर लगभग १६ वीं शताब्दी तक चन्देलो का प्रभुत्व रहा। चन्देलों का मुख्य स्थान कालिन्जर का दुर्ग था और निवास-स्थान महोबा। खजुराहों को उन्होंने अपना वास्तु-पीठ या प्रासाद-पीठ चुना।

बुन्देलखण्ड मण्डल की शिल्पकला का प्रतिनिधि ही नहीं सर्वस्व खजुराहों के मन्दिर हैं। इनमें कंडरिया (कन्दरीय) महादेव का मन्दिर सर्वप्रख्यात एव सबसे विशाल है। इस मन्दिर को अनुमानतः दसवीं शताब्दी में राजा धंगदेव ने बनवाया था। कहा जाता है निनोरा ताल, खजुराहों गाव और निकटवर्तिनी शिव-सागर पुष्करिणी के इतस्ततः प्राचीन समय में ८५ मन्दिर थे। उनमें से अब लगभग तीस मन्दिर विद्यमान हैं।

चन्देलों की इस पवित्र भूमि के इतिहास से विदित होता है कि चन्देल शैव होते हुए भी उन्होंने अन्य धर्मों एव सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय सहिष्णुता बर्ती। वैष्णव धर्म जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म—सभी के स्मारक चिन्ह यहा पर विराजमान हैं। इन सभी धर्मों के अनुरूप यहा पर मनोरम मन्दिर देखने को मिलेंगे। खजुराहों के विद्यमान प्रासादो के अन्यतम निदर्शनों की पुष्पमालिका के सौरभ का आनन्द पाठक **प्रतिमा-विज्ञान** के १६६ पृ० पर ले सकते हैं। विशेष विवक्षा का अवसर तो तृतीय पटल में ही प्राप्त होगा।

राजस्थानीय एव मध्यभारतीय मन्दिरों का राज्याश्रय

उत्तर भारत में दैवदुर्विपाक से शतशः मन्दिर मुसलमानो के द्वारा ध्वस्त कर दिये गये। कन्नौज, काशी, प्रयाग, अयोध्या और मथुरा के अगणित मन्दिरो के नाश की कथा—मध्यकालीन मुस्लिम सत्ता की कलङ्क-कालिमा से हम परिचित ही हैं। अतः बहुत थोडे प्राचीन स्मारक अवशेष हैं।

राजपूताने मे यवनों का प्रवेश अधिक न हो पाया। जोधपुर में दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला बानमडो मे 'महामन्दिर' नाम से विख्यात है जिसमें अनेक शिखर हैं तथा जिसका मण्डप सहस्रस्तम्भ है। दूसरा एक-शिखर मन्दिर भी सुन्दर है।

उदयपुर राज्य में भी दो बडे सुन्दर मन्दिर मिलते हैं। उदयादित्य परमार का बनवाया हुआ उदयेश्वर महादेव का मन्दिर मालवा में सर्वश्रेष्ठ है। 'एकलिङ्ग' के नाम से विख्यात मन्दिर उदयपुर राजधानी से बारह मील उत्तर एक घाटी मे श्वेत सगमरमर का है। कहते हैं कि 'एक-लिङ्ग' की स्थापना मेवाड़ के आदि पुरुष बाप्पा रावल के समय मे हुई थी और ईसा की १५वीं शताब्दी में महाराणा कुम्भ ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

राजपूताना के पूर्वी कोने पर ग्वालियर का सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसमें सास बहू (सहस्रबाहु) का अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। इसकी स्थापना सम्भवतः ७वीं या ८वीं सदी मे हुई। फार्गुसन के मत में यह ११वीं शताब्दी मे बना था।

मध्यप्रान्त के ग्वालियर का 'तेली का मन्दिर' भी इस मण्डल का एक अनूठा उदाहरण है। अन्य मन्दिरों में जिन्हें कलचुरि राजाओं ने बनवाया था चौसठ जोगिनियों का मन्दिर ही एक उत्कृष्ट नमूना है जो अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ओसिया के वरेण्य मन्दिरों का वर्णन नहीं विस्मृत किया जा सकता है। यह जोधपुर में है तथा यहाँ पर विभिन्न देवों के मन्दिरों की सख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें एक मन्दिर सूर्य का भी है। राजपूताना के मन्दिरों की गाथा में आबू पर्वत पर बने हुए जैन मन्दिरों का संकीर्तन आवश्यक है। ये मन्दिर बड़े ही सुन्दर हैं और संगमरमर पत्थर के बने हैं। करोड़ों रुपियों की लागत उस समय लगी थी। एक मन्दिर विमल शाह का तथा दूसरा तेजपाल तथा वास्तुपाल बन्धुओं का कहा जाता है। इन मन्दिरों की कारीगरी दर्शनीय है।

सोलंकी राजवश का प्रासाद-निर्माण-संरक्षण

उत्तरभारती वस्तु-कला का एक अनूठा एवं अति समृद्ध विकास-केन्द्र मध्य कालीन गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) एव कच्छप्रदेश आधुनिक काठियावाड़ रहा। इस प्रदेश के समृद्धिप्रकर्ष को श्रेय है कि नाना मन्दिरों का ही निर्माण नहीं हुआ वरन् प्रासाद-कला में एक नवीन शैली (लाट शैली—दे० आगे का अ० 'प्रासाद-शैलियाँ') का भी विकास हुआ। इस वास्तु-वैभव का श्रेय तत्कालीन सुदृढ़ एवं समृद्ध सोलंकी राजाओं के राजवंश को है। इनकी प्राचीन राजधानी अनहिलवाड पट्टन थी जो आधुनिक अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम में पाटन के नाम से प्रख्यात है। सोलङ्कियों के राज्याश्रय मे पनपी प्रासाद-कला १०वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक पूर्ण प्रोत्थान को पाती रही।

सोलङ्कियों के राज्याश्रय-प्राप्त मन्दिरों में गुजरात में सुनक, कनोदा, देलमल तथा कसरा के मन्दिर १०वीं शताब्दी में, मोंधारा का सूर्यमन्दिर ११वीं शताब्दी में तथा सिद्धपुर पर रुद्रमल का मन्दिर १२वीं शताब्दी में विनिर्मित हुए। इसी प्रकार काठियावाड में घुमली और सेजाकपुर पर नवलखा मन्दिरों का ११वीं शताब्दी में निर्माण हुआ और सोमनाथ का विश्वविश्रुत मन्दिर द्वादश शतक में पुनरुद्धृत हुआ।

इस मण्डल के मन्दिरों में सोमनाथ के मन्दिर को भारतीय इतिहास में जो महिमा और गरिमा प्राप्त है वह पश्चिम भारत के अन्य किसी भी मन्दिर को नहीं। इसकी गणना राष्ट्र के उन द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में होती है जो सिन्ध से आसाम तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एवं प्रशस्त आकार से युक्त काठियावाड़ के दक्षिण समुद्रवेला पर विराजमान है और सोमेश्वर शिव का प्राचीनतम स्थान। इस मन्दिर पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का इतिहास हम जानते ही हैं। भीमदेव प्रथम (१०२२–१०७२ ने ही प्राचीन मन्दिर का पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार किया था।

गुजरात और काठियावाड़ के मण्डलीक मन्दिरों की विरुदावली के बखान में काठियावाड़ की दो पहाड़िया—शत्रुञ्जय पर्वत तथा गिरनार पर्वत हैं जहाँ पर जैनियों ने एक नहीं अनेक मन्दिर बनवाये यहाँ तक ये स्थान मन्दिर-नगर temple-cities के नाम से संकीर्तित हैं। कहा जाता है इन मन्दिर-नगरों मे रात में तीर्थ-यात्री टिकने नहीं पाता।

इन मन्दिरों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग अर्थात् ११वीं से लेकर १३वीं शताब्दी तक के जो अनेकानेक मन्दिर बने उनके निर्माण में राज्याश्रय तो निश्चित ही है परन्तु १३वीं शताब्दी में इस प्रदेश में एक अभिनव

मन्दिर-निर्माण-चेतना को जन्म देने का श्रेय हेमदपन्त को है जिसका सुनिश्चित इतिहास लोगों को अज्ञात है। वह इतना प्रसिद्ध है कि लोग उसे पौराणिक पुरुषों में परिगणित करते हैं। वास्तव में वह देवगिरि राजवश के रामचन्द्र देव (जो इस वश का अन्तिम शासक था) का प्रख्यात प्रधानमात्य था। इसने सैकड़ों मन्दिर बनवाये और इन मन्दिरों का नामकरण ही हेमदपन्ती शैली में हुआ।

हेमद पन्त के पूर्व विनिर्मित मन्दिरों में थाना जिला का अम्बरनाथ मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। खानदेश में बालसने पर विराजमान त्रिआयतन मन्दिर तथा महेश्वर भी कम प्रख्यात नहीं हैं। इसी प्रकार नासिक जिले में सिन्नार पर गोण्डेश्वर, झागडा पर महादेव तथा अहमदनगर जिले में पेदगाव का लक्ष्मीनारायण भी प्रसिद्ध हैं। निजाम हैदराबाद के राज्य में नागनाथ का मन्दिर भी उल्लेख्य है। ये सभी मन्दिर ११वीं से १३वीं शताब्दी के बीच में बने।

अब रहा इस शैली का षष्ठ मण्डल – मथुरा वृन्दावन, वह अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और राजाओं के अतिरिक्त सेठों, साहूकारों एवं साधारण भक्तजनों का भी संरक्षण इन मन्दिरों की रचना में कम नहीं है।

योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र की क्रीडास्थली मथुरा-वृन्दावन का यह मण्डल मन्दिर-पीठ के लिये अति प्रशस्त प्रदेश था, परन्तु यहा के मन्दिर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं। भारतीय इतिहास में मुसलमानों की संहारकारिणी पैशाची प्रवृत्ति के निदर्शनों की कमी नहीं परन्तु सौभाग्य से १६ वीं शताब्दी में मुगल सम्राट अकबर के औदार्य एवं अन्य-धर्म-सहिष्णुता को ही श्रेय है कि मुगल-राज-पीठ के अतिनिकट वृन्दावन में उसी काल में पाच प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन पाच मन्दिरों के नाम से हम सभी परिचित हैं.—

१. गोविन्ददेवी २ राधावल्लभ ३. गोपीनाथ ४. जुगुलकिशोर तथा ५. मदनमोहन

इन मन्दिरों के निर्माण मे यद्यपि वैष्णव-धर्म के उस मध्यकालीन प्राञ्जल एवं अति उदात्त आविर्भाव को श्रेय है जिसका श्रीगणेश चैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ था तथापि यह कथन अनुचित न होगा कि मुगल सम्राट अकबर की इस धार्मिक सहिष्णुता का राजाश्रय के रूप में मूल्याङ्कन हो। आगे उसके उत्तराधिकारियों मे औरङ्गजेब की नृशसता से हम सभी परिचित हैं जिसके समय मे इस मण्डल के मूर्धन्य मन्दिर गोविन्ददेवी ना ध्वस किया गया और अब उसका महामण्डप ही उसकी प्राचीन गाथा का स्मारक है।

वृन्दावन के मन्दिरों के सम्बन्ध मे एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनकी निर्माण-शैली मे एक नवीन पद्धति का अनुगमन प्रत्यक्ष है। भुवनेश्वर एव खजुराहो के मन्दिरों पर जो मूर्ति-विन्यास-प्राचुर्य देखा जाता है वह यहा पर सर्वथा विलुप्त हो गया। शिखरों के आकार में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। पर्सी ब्राउन को इस नवीनता में मुसलिम कला का प्रभाव प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में, जैसा हम आगे तृतीय पटल मे विशेष विवेचन करेंगे, यह नवीनता उत्तर मध्यकालीन लाटशैली की अति अतिरञ्जनात्मक-शैली की एक प्रकार से प्रतिक्रिया ही है।

हिन्दू प्रासाद-कला का यह विहङ्गमावलोकन वास्तव में अधूरा ही रहेगा यदि हम उत्तरापथ के अन्य कतिपय समृद्ध केन्द्र-शिखरों पर कुछ देर के लिए और विहार न करलें।

इनमें सर्व-प्रथम संकीर्तन बंगाल-विहार-मण्डलीय मन्दिरों का होना चाहिए जहाँपर ईशवीयोत्तर अष्टमशतक से लगाकर अष्टादश शतक अनेक मन्दिर बने और कतिपय आज भी विद्यमान हैं। बगाल के पाल और सेन राजवंश का कलासरक्षण प्रसिद्ध है। पालवंशीय वास्तु-कला के प्रमाण मूर्तियों में तो खूब मिलते हैं परन्तु मन्दिरों के एकाध ही स्मारक हैं। कन्तनगर (दीनाजपुर) का नौ विमानों वाला मन्दिर विशेष उल्लेख्य है। अन्य प्राचीन मन्दिरों के विवरण आगे द्रष्टव्य होंगे। प्राचीनों में खिचिंग (मयूरभञ्ज) तथा अर्वाचीनों में विष्णुपुर के मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

इसी प्रकार उत्तरापथ का काश्मीर-मण्डल भी प्रासाद-वास्तु का अति प्राचीन एवं समृद्ध पीठ है। यहाँ के मन्दिरों की कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं जो पार्वत्य-प्रदेश के अनुकूल ही हैं। काश्मीर के मन्दिरों में सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर है। भारत के सूर्य-मन्दिरों में इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान हैं। इसको काश्मीरनरेश ललितादित्य ने बनवाया था। यह आठवीं शताब्दी का है। इसी शताब्दी का शङ्कराचार्य-मन्दिर भी अपनी महिमा आज भी रक्खे हैं। तदनन्तर अवन्तिपुर के मन्दिर (नवीं शताब्दी) आते हैं। इनमें अवन्तिस्वामि का विष्णु मन्दिर तथा अवन्तीश्वर शिव-मन्दिर विशेष प्रख्यात हैं। इनके निर्माण में काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मन तथा उसके उत्तराधिकारियों का हाथ था।

शंकरवर्मन (जो अवन्तिवर्मन के अनन्तर सिंहासनारूढ हुआ) ने भी बहुसंख्यक मन्दिर बनवाये, जिनमें दो शिव-मन्दिरों के भग्नावशेष विद्यमान हैं।

काश्मीर-मण्डल के साथ-साथ नेपाल-मण्डल के मन्दिरों का गुणानुवाद आवश्यक है। नेपाल में तो घरों से अधिक मन्दिर हैं। यहाँ बौद्धों एवं ब्राह्मणों दोनों के मन्दिर मिलते हैं। स्वयंभूनाथ का स्तूप, बुद्धनाथ का मन्दिर और चगुनाथ का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम दो मन्दिरों का प्राचीन गौरव इसी से प्रकट है कि इनकी स्थापना उस सुदूर अतीत में हुई थी जब राजर्षि अशोक ने बौद्ध भिक्षु के रूप में नेपाल की तीर्थ-यात्रा की और उसकी स्मृति में अगणित स्तूपों का निर्माण कराया, उन्हीं में दो ये भी हैं।

मल्लराजाओं के राज्याश्रय से नेपाली वास्तु-कला अपनी एक नवीन शैली लेकर निखर पड़ी। इस राजवंश के सप्तम तथा अष्टम राजा जयस्तिथि तथा यक्ष (१४वीं तथा १५वीं शताब्दी) ने जिस राज-निवेश योजना लेकर चले उसमें पूजा-वास्तु तथा जन-वास्तु (religious and secular architecture) दोनों को ही पल्लवन-प्रश्रय प्राप्त हुआ।

भारत के दक्षिण एवं उत्तर के इस प्रासाद-वास्तु-वैभव की थोड़ी सी झाँकी देखने के बाद दक्षिण में पुन. पदार्पण करें तो सिंहलद्वीप (लंका) का स्मरण अवश्य आ जाता है, अगाध समुद्र-जल-राशि भी व्यवधान उपस्थित नहीं कर पाती। आधुनिक भारतीय-जीवन रामचरित से अधिक प्रभावित है तो रामचरित मे रावण को कौन भूल सकता है? लंका उसी की राजधानी थी जो सोने की कही जाती थी। आज-कल तो सिंहलद्वीप में वास्तु-कला की दृष्टि से वहाँ के राज-पीठों का निर्माण ही विशेष विवेच्य है। यतः यह स्थान अति प्राचीन समय में ही बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया था अतः वहाँ पर हिन्दू प्रासादों को कौन प्रश्रय देता? यद्यपि लंका का ऐतिहासिक राजा रावण तो शिवभक्त था तथापि मन्दिरों के नाम से

लङ्कातिलक (जेतवनराम) मन्दिर (१८वीं शताब्दी) का तो संकीर्तन कर ही लेना चाहिए। इस में बुद्ध भगवान की जो मूर्ति खोदी गयी है वह लगभग ६० फीट की है। सिंहलद्वीपीय स्थापत्य का अपना अलग विकास था, यद्यपि दाक्षिणात्य कला का उस पर पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है। वहा के स्थापत्य में पार्वत-वास्तु ही प्रधान है तथा राजाश्रय पूर्ण मात्रा में।

सिंहलद्वीपीय कला के इस किञ्चित्कर आलोचन के उपरात वर्मा के वरेण्य पगोडाओं का नामोल्लेख भी नितात प्रासङ्गिक है। यहा का काष्ठ-स्थापत्य (wooden Architecture) बड़ा स्तुत्य है। वैसे तो वर्मा की वास्तु-कला की तीन विकास धारायें है परन्तु मध्यकालीन स्तूप एव मन्दिर ही विशेष विख्यात हैं। इनमें पागन के मन्दिर दर्शनीय है। यह एक मन्दिर-नगर के रूप में निर्मित हुआ है। उत्तर-मध्यकाल अथवा अर्वाचीन युग में पगोडाओं की माला मे ब्रह्मा का सुन्दर देश मण्डित है। माण्डले के इतस्तत बहुसंख्यक पगोडाओ का निर्माण हुआ।

भारतवर्ष की इस प्रासाद-राशि के उत्तुङ्ग शिखर मे कुछ अनायास अगणित कण सास्कृतिक झोंकों से ऐसे उडे कि भारत से बाहर द्वीपान्तर भारत या बृहत्तर भारत के नाना प्रदेशों में बिखर गये। काम्बोडिया, स्याम, चाम्स (Chams—अन्नाम—इन्डोचाइना) जावा और बाली आदि द्वीपान्तरों में बहुसख्यक निदर्शन हिन्दू-प्रासाद के पोषक प्रमाण हैं।

कम्बोडिया के अंगकोरवट नामक मन्दिर की छटा दर्शनीय है जो वहाँ के राजा जयवर्मन द्वितीय की कीर्तिपताका को आज भी उड़ारही है। यहा के बयोन (Bayon) मन्दिर के निर्माण में सूर्यवर्मन प्रथम के राज्याश्रय का उल्लेख भी वाञ्छित है। इसी प्रकार कम्बोडिया के बत्तेयस्त्री या वैनतेयश्री मन्दिर का निर्माण खमेर राजवश के जयवर्मन सप्तम के द्वारा हुआ। स्याम का महाधातु मन्दिर तथ अन्नम (फ्रेन्च इण्डो चाइना) मे जो मन्दिर है उनमें महाभारतीय पाण्डवों के नाम उपश्लोकित है। भीममन्दिर, पुन्द्रदेव-मन्दिर, प्रम्बनय, पनतरम, आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

अस्तु, हिंदू-प्रासाद की पृष्ठ-भूमियों में राजाश्रया के इस विहङ्गावलोकन में जिस उड़ान के साथ हम उठे उसमें तो पृष्ठ-भूमि (foundation) से शिखर पर विराजमान होगये अत. अब वहाँ से उतर कर भूतल पर वास्तु मर्म का अवगमन करें।
